।। श्री गुरुः।।

।। शाम्भवोपाय।।

चैतन्यमात्मा ।।1।।

सर्वोच्च चेतना की स्वतंत्रावस्था हर वस्तु का सत्य है।

इस सूत्र में 'आत्मा' का मतलब है – हर कुछ का सत्य (Reality of everything), सर्वोच्च चेतना (Supreme Consciousness)। चैतन्य ही सब वस्तुओं का सत्य है। क्यों ? क्योंकि जो चेतना में नहीं आया है उसका अस्तित्व ही नहीं है। चैतन्य की क्रिया चेतन एवम् निश्चेत में एक जैसी होती है। जो चेतन है वहाँ चैतन्य की क्रिया है, जो चैतन्य के प्रति सचेत नहीं है वहाँ भी तो चैतन्य की क्रिया है। अतः चैतन्य वह है जो औरों को भी चेतन करता ह। यह ज्ञान एवम् क्रिया में पूर्ण स्वतत्र है। यही सत्य चैतन्य कहलाता है जिसका मतलब होता है पूर्ण स्वातंत्र्य। सारा ज्ञान एवम् सारी क्रियाएँ एक चैतन्य से जुड़ी हैं जो पूर्ण स्वतंत्र पराचेतना (God Consciousness) है। मात्र परशिव के पास पूर्ण स्वतंत्र पराचेतना होती है।

इस पृथ्वी से लेकर अनाश्रित शिव तक सब चेतन शिव पर निर्भर करत हैं। यद्यपि शिव की पूर्ण स्वतंत्रावस्था में कई दिव्य पहलू हैं जैसे अजन्मा, सबमें व्याप्त, सम्पूर्ण तथा सर्वज्ञ – ये शिव के अद्वितीय पहलू नहीं हैं। अद्वितीय पहलू है पूर्ण स्वातंत्र्य जो और कहीं नहीं मिलता। इस सूत्र में पूर्ण स्वातंत्र्य का पहलू (Aspect) ही दर्शाया गया है। यह पहलू ''चैतन्य'' शब्द में ही समाया हुआ है।

''चैतन्य'' – सर्वोच्च चेतना की पूर्ण स्वतंत्रावस्था है। यदि यहाँ यह दर्शाना होता कि पूर्ण स्वातंत्र्य के अतिरिक्त दूसरे पहलू भी हैं तो रचनाकार 'चेतना' शब्द का उपयोग करता (चेतना = होश, सजगता)। लेकिन मात्र जिस एक पहलू का ही अस्तित्व है वह है स्वातंत्र्य। दूसरे पहलू सर्वव्यापकता, आनन्द, पूर्ण इत्यादि का कोई अलग अस्तित्व नहीं है। ''चैतन्य'' शब्द से पूर्ण स्वातंत्र्य का ही बोध प्रकट है। अतः यहाँ चैतन्य का मतलब **चेतना की पूर्ण स्वतंत्रावस्था** है। यह स्वतंत्रावस्था ही 'स्व' (self) है। यही सभी वस्तुओं का स्व–आत्मा है। संसार में जो भी प्रकट अथवा अप्रकट है उसको आत्मा शिव है या वह शिव की एक अवस्था है। अतः शिव ही सर्वत्र है।

अभी हमने कहा कि स्वातंत्र्य के अलावा भिन्न पहलुओं का अस्तित्व है ही नहीं। ऐसा क्यों कहा गया? इन भिन्न पहलुओं को शिव से अलग क्यों कर दिया गया? क्षण भर के लिए मान लें कि ये भिन्न पहलू हैं, तो प्रश्न उठता है कि क्या इन पहलुओं में 'स्वातंत्र्य' है? यदि नहीं तो ये जड़ हैं, बिना चेतना के। अब यदि यह कहें कि हाँ ये सब पहलू स्वातंत्र्य से सिक्त हैं तो फिर भिन्न–भिन्न पहलुओं को मानने के

बजाय मात्र स्वातंत्र्य की ही सत्ता मानना ठीक है, साथ ही जब पूर्ण स्वातंत्र्य के साथ सर्वोच्च चेतना का अस्तित्व है और समय, अंतरिक्ष एवम् पदार्थ इस सर्वोच्च चेतना से अलग हैं तो समय, अंतरिक्ष एवम् पदार्थ का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। इनका अस्तित्व तो तभी हो सकता है जब वे सर्वोच्च चेतना से जुड़े हों। यदि भिन्न–भिन्न जीव चेतना से भरे हैं तो उनमें क्या फर्क हो सकता है? कोई भिन्नता हो ही नहीं सकती। अतः सारे जीव एक विश्व–जीव हैं।

अब हम ''मल'' (Veil of ignorance) की बात करते हैं। यह मल ठहरता कहाँ है? हम कैसे कह सकते हैं कि मल का अस्तित्व है? अगर सर्वोच्च चेतना से मल को अलग कर दें तो मल का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। अगर मल शिव चेतना से पूर्ण है तो उसे 'मल' (ignorance) कह ही नहीं सकते। जब मल खोजा ही नहीं जा सकता तो क्या बचता है? अगर हम यह कहें कि बोध प्राप्त होने के पहले मल था लेकिन बोध प्राप्ति के बाद मल का अस्तित्व नहीं रह जाता है, तब सत्य तो यही होगा कि मल आरम्भ से ही नहीं था। अतः 'मल' कुछ और नहीं बस ज्ञान की कमी का नाम है।

क्षेमराज ने उन साधकों की बात की है जो दिन–रात ध्यान करके भी कुछ हासिल नहीं करते। ये साधक/लोग ठीक अज्ञानियों के समान होते हैं। यह ''शिवावस्था'' नहीं है। शिव की वास्तविक स्थिति तो पूर्ण ज्ञान की है (full realization)। यही पूर्णता है – वास्तविकता – सर्वोच्च चेतना के स्वातंत्र्य की वास्तविकता। आत्मा का सत्य भी तभी प्रकट होता है जब तुम चैतन्य (सर्वोच्च चेतना के स्वातंत्र्य) से परिपूर्ण होते हो। जब तक ऐसा नहीं होता है तब तक सब कुछ निरर्थक है। अतः जीवों की भिन्न–भिन्न स्थितिया नहीं हैं अपितु विश्वजोव की एक ही स्थिति है। इसीलिए प्रथम सूत्र में कहा गया है कि सभी में चैतन्य एक है।

उक्त सूत्र की एक और व्याख्या है। जब गुरु पूछते हैं – आत्मा क्या है? तब शिष्य उत्तर देता है – यह शरीर आत्मा नहीं है। यह संसार आत्मा नहीं है। यह मन, मस्तिष्क, विचार आत्मा नहीं है। अंतरिक्ष, सूर्य, चन्द्र आत्मा नहीं है। आस्तिकता, अनास्तिकता, वेद आत्मा नहीं है। कोई विचारधारा, दर्शन, साहित्य आत्मा नहीं है। तब आखिर आत्मा है क्या ? अब गुरु समझाते हैं – ''पूर्ण स्वतंत्र चैतन्य ही आत्मा है और कुछ नहीं ।''

विश्वाहंता का सत्य – चैतन्य इनमें भी है – शरीर, प्राण, बुद्धि एवम् शून्य में लेकिन –

* शरीर में वह शरीर से ऊपर है।
* प्राण में वह प्राणों से ऊपर या प्राणों का प्राण है।
* बुद्धि में वह तीक्ष्णतम बुद्धि (super intellect) है।
* शून्य में वह परिपूर्ण है। (In voidness he is full)
* कुछ नहीं में वह सब कुछ है। (In nothingness he is everything)

मृत्युजित भट्टारक ने भी ''स्व'' का वर्णन इस प्रकार किया है – स्वतंत्र पराचेतना ही 'स्व' (आत्मा) का स्वरूप है। इसका वर्णन सभी शास्त्रों में पाया जाता है। परमात्मा का भी स्वरूप/सत्य यही है, किसी भी बंधन या आवरण से मुक्त है अर्थात् पूर्ण रूप से प्रकट। **(नेत्रतंत्र)**

विज्ञान भैरव भी यही बात कहता है – सभी जीवों में सर्वोच्च चेतना की स्वतंत्रावस्था विद्यमान रहती है। तुम्हें उस चैतन्य को पाना चाहिए। ऐसा करने के लिए व्याप्ट की पूर्णता पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए जो चैतन्य की अवस्था है। 'ऐसा करने' पर तुम भिन्नता के ज्ञान पर विजय हासिल कर लोगे और चेतना के व्यक्तिगत स्तर से ऊपर उठ जाओगे। **(विज्ञान भैरव 100)**

स्पन्दकारिका में यही वासुगुप्त ने कहा है – अगर गहरे ध्यान में तुम ज्ञानेन्द्रियों एवम् कर्मेन्द्रियों का निरीक्षण करो तो उनमें तुम चैतन्य के परम स्वातंत्र्य को पाओगे। **(स्पंदकारिका 1:6, 1:7)**

क्षेमराज जी ने इस सूत्र की अलग तरह से व्याख्या की है। उनके कथनानुसार इस सूत्र में 'आत्मा' का मतलब है ''रूप'' (Form) अर्थात् चैतन्य ही रूप है। चूंकि यह नहीं कहा कि किसका रूप। अतः यह निष्कर्ण निकलता है कि संसार में जितने रूप हैं वे सब चैतन्य ही ह। इस प्रकार भिन्न–भिन्न व्यक्ति, जीव, वनस्पति एवम् जड़ पदार्थ जैसे चट्टान इत्यादि सब चैतन्य ही हैं। जिन पदार्थों की मात्र कल्पना की जा सकती है उनका स्वरूप भी चैतन्य ही है। उदाहरणार्थ – बन्ध्यापुत्र, पक्षी का दूध। संसार में चाहे इनका अस्तित्व न हो किन्तु चैतन्य में है क्योंकि इनको कल्पना की जा सकती है। हर कल्पना का स्वरूप भी चैतन्य ही है। जो कल्पनातीत है उसका स्वरूप भी चैतन्य ही है। प्रमातृ की वजह से ही ये काल्पनिक प्रमेय है क्योंकि चैतन्य में प्रमातृ एवम् प्रमेय अभिन्न हैं।

अन्ततः यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ भी सही नहीं है, कुछ भी गलत नहीं है। सब कुछ चैतन्य से परिपूर्ण है। तुम जो कुछ भी करते हो वह दिव्य है और जो नहीं करते हो वह भी दिव्य है। जो तुम करने के प्रति प्रतिबद्ध हा वह भी दिव्य है तथा जिसके प्रति प्रतिबद्ध नहीं हो वह भी दिव्य है। एक जीव ही समस्त जीव है। स्वतंत्र चैतन्य ही संसार रूप में है। अतः किसी साधन को उसके बोध के हेतु कैसे चुन सकते हो ? अगर तुम कुछ चुनते हो तो यह साधन भी साध्य ही है। अतः जो कुछ भी तुम चुनो – प्राणायाम, ध्यान, धारणा या समाधि, हर साधन चैतन्य से परिपूर्ण है। अतः साधन ही साध्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि साधन है ही नहीं। क्षणभर के लिये मान लो कि ये चैतन्य से भरे हुये नहीं हैं तो इनका अस्तित्व ही नहीं हो सकता। इनको जाना ही नहीं जा सकता। चैतन्य को ढका नहीं जा सकता क्योंकि बिना चैतन्य के कोई आवरण भी अस्तित्व में नहीं रह सकता।

उच्छष्म भैरव में कहा है : – तुम्हें जानना चाहिए कि चैतन्य तुम्हारी व्यक्तिगत स्थिति की तुलना में तुम्हारी छाया की तरह है जिसे तुम लाँघने की कोशिश कर सकते हो लेकिन सफल नहीं हो सकते।

अतः चैतन्य को कभी प्रमेय बनाकर इंद्रियों से नहीं पाया जा सकता, और न ही ऐसा करने की जरूरत है। सभी को चैतन्य का अनुभव है ही। यह तो प्रमाता की स्थिति ही है।

स्पन्द कहता है – जिस स्थिति में यह संसार अस्तित्व में है वही प्रमाता की वास्तविक स्थिति है। अतः निष्कर्ष यह है कि सर्वोच्च सत्य चैतन्य है जो सदा गतिशील है, सब जगह है। अंतरिक्ष में व्याप्त है तथा अंतरिक्ष के पार भी है।

यदि जड़ और चेतन का सत्य चैतन्य ही है तो बंधन कहाँ ठहरता है? बंधन तो हो ही नहीं सकता। इस प्रश्न के उत्तर में दूसरा सूत्र है। दूसरे सूत्र को दो प्रकार से लिखा जा सकता है – (i) पहले सूत्र से जोड़ कर संधि विच्छद करने पर – चैतन्यम्आत्माज्ञानम्बंधः = (i) चैतन्यमआत्मा + अज्ञानं बंधः (ii) अब दोनों सूत्रों को मूलतः अलग–अलग लिखने से – चैतन्यम्आत्मा + ज्ञानं बंधः ।

आगे दूसरे सूत्र में दोनों तरह से लिखे गये सूत्र में उत्तर खोजते हैं –

ज्ञानं बंधः ।। 2।।

भिन्नता का ज्ञान बंधन है। अभिन्नता का अज्ञान बंधन है।

सूत्र को जब संधिविच्छेदात्मक रूप से अज्ञानं बन्धः कहते हैं तब अभिन्नता का ज्ञान न होना बंधन का कारण कहा जाएगा। ऐसे ही 'ज्ञान बंधः' यानि भिन्नता का ज्ञान ही बंधन का कारण है।

जिस प्रकार स्वयं के चैतन्य स्वरूप को न जानना बंधन है, वैसे ही स्वयं की व्यक्तिगत चेतना को स्वरूप की तरह जानना भी बंधन है।

मल क्या है ? शैव दर्शन में – जो अस्तित्व में है वह भी एवम् जो अस्तित्व में नहीं है वह भी चित्प्रकाश से अलग नहीं है। तो फिर यह मल कहाँ से आ गया? यह मल (Impurity) कचरा (Dirt) नहीं है वरन् अनभिज्ञता या अज्ञान (Ignorance) है।

सर्वसार तंत्र में कहा है – ''इस अज्ञान के कारण तुम भिन्नता के ज्ञान से भरे हो तथा अभिन्नता के ज्ञान से वंचित हो। इसी कारण जन्म–मरण के चक्र में बंधे हो। ''

मालिनी विजयतंत्र में उल्लेख है – ''अज्ञान ही मल है। यह अज्ञान है – अभिन्नता का ज्ञान न होना तथा भिन्नता का ज्ञान होना। यह अज्ञान ही संसार का अंकुरण है।''

यह सीमा या बंधन का कारण परमशिव की भ्रम उत्पन्न करने वाली शक्तिहै। यह शक्तिशिव की स्वातंत्र्य शक्तिसे उत्पन्न होती है। इस भ्रमकारक शक्तिसे वह स्वयं का वास्तविक स्वरूप छिपाकर सीमा को प्रकट कर देता है। ऐसा वह मात्र खेल के लिए करता है किसी संतोष या खुशी के लिए नहीं।

आत्मा एक बड़ा शून्य है जो चेतना से भरा है और उस निर्वात में अनाश्रित शिव से जीव तक रहते हैं। सीमा का प्रकाशन ही बंधन है। संकुचन अज्ञान का है। यह अज्ञान शिव स्वरूप का अज्ञान है। बंधन का चिन्ह अपूर्ण मान्यता है, यह अहसास कि तुम अपूर्ण हो। आप सहमत हो कि आप अपूर्ण हो, आप पूर्ण नहीं हो यही मल है। इसी को 'आणवमल' कहते हैं। यह सीमित ज्ञान को स्थिति है – भिन्नता के ज्ञान की स्थिति है। यह अज्ञान की स्थिति है – अभिन्नता के अज्ञान की स्थिति है।

बंधन अस्तित्व से विलग नहीं है। बंधन किसी अन्य स्रोत से नहीं आता। बंधन तुम्हारी ही स्वतंत्रता का परिणाम है। स्वतंत्र इच्छा से ही तुमने स्वयं को बांध लिया है।

स्पन्दकारिका का कथन है – ''जब तुम स्वयं की स्वतंत्रता से बेकार, शक्तिहीन, निकम्मे बन जाते हो.....।'' **(स्पन्दकारिका 1:9)**

ज्ञान और अज्ञान दोनों ही बंधन हैं। जब तुम्हारा ज्ञान, विश्वास, मान्यता कहती है कि मैं आत्मा नहीं हूँ, मैं विश्व–चेतना नहीं हूँ, मैं इसका पुत्र, इसका पिता, इसका भाई, इसका मालिक..... इत्यादि हूँ तो यह ज्ञान तुम्हारा बंधन है।

स्वयं के शुद्ध स्वरूप को न जानना (अज्ञान) ही बंधन है।

स्पन्दकारिका का वक्तव्य है – 'अमृत तुमसे दूर कर दिया गया है। **(स्पन्दकारिका 3:14)**

पहले सूत्र में हमने निष्कर्ष निकाला था कि ''सर्वोच्च चेतना की पूर्ण स्वातंत्रावस्था'' ही चैतन्य है। सर्वव्यापक चेतन के संदर्भ में आणवमल की व्याख्या दो तरह से होती है :–

(i) सीमित चेतना की स्थिति जब तुम समाधि में नहीं होते – आणवमल है। यह तब की स्थिति है जब तुम चेतना को समझते हो और यह अनुभव करते हो कि चेतना की स्थिति मात्र समाधि में ही होती है तथा समाधि के साथ ही समाप्त हो जाती है।

(ii) आणवमल सीमित चेतना की वह स्थिति है जब समाधि से बाहर आने के बाद तुम अपने स्वरूप का बोध खो देते हो और बाहरी संसार में प्रवेश करते हो।

दोनों स्थितियों में यह आणवमल बंधन है। या तो तुम्हें सदा समाधि में रहना होगा, जब तुम अपने स्वरूप में स्थित हो या जब तुम अपने स्वरूप में स्थित होते हो वहाँ से तुम बाहरी संसार में आ जाते हो और अपना स्वरूप खोने लगते हो।

अतः आणवमल दोनों संसारों में व्याप्त हो जाता है – बाहरी संसार तथा भीतरी संसार । जब यह भीतरी संसार में व्याप्त होता है तो तुम भीतरी संसार से बाहर नहीं आ पाते और जब यह बाहरी संसार में व्याप्त होता है तो जैसे ही तुम बाहरी संसार में प्रवेश करते हो – स्वरूप बोध लुप्त हो जाता है।

प्रत्यभिज्ञाकारिका का वक्तव्य है – आणवमल दोहरा होता है। कभी–कभी स्वरूप बोध के समय स्वतंत्रता महसूस नहीं होती। यह स्वरूपबोध शिवानुग्रह से होता है, तुम्हारी अपनी इच्छा से नहीं। या फिर अगर स्वातंत्र्य तुम्हें मिलता है तो तुम्हें सर्वोच्च चेतना का वह अनुभव जो समाधि में मिलता है, नहीं मिलेगा। यद्यपि तुम्हारे पास स्वातंत्र्य है तथापि सर्वोच्च चेतना का अनुभव कम हो गया है।

अतः कभी स्वातंत्र्य नहीं होता तो कभी बोध नहीं होता (जागरुकता नहीं होती – अबोध) । इस प्रकार साधक मूल स्वरूप से अलग हो जाता है।

अब आगे बताया जा रहा है कि आणवमल एकमात्र बंधन नहीं है, कुछ और भी है जो बंधन है।

योनिवर्गः कलाशरीरम् ।। 3।।

मायीयमल एवम् कार्ममल भी बंधन है। योनिवर्ग = भिन्नता का ज्ञान। यह मेरा है, यह पराया है, यह सुन्दर है, यह सुन्दर नहीं है, यह अच्छा है, यह बुरा है। ये सारे वक्तव्य योनिवर्ग के उदाहरण हैं। इस तरह का भिन्नता का ज्ञान जिस मल के कारण होता है उसे मायीयमल कहते हैं।

कला शरीरम् (Embodiment of action) अर्थात् कर्म का सम्मिलित स्वरूप (मूर्तरूप) – यह काम हो गया, यह काम करना है, यह तो अधूरा काम हुआ, यह काम अच्छी तरह सम्पन्न हो गया। ये सारे वक्तव्य जिस ज्ञान का प्रतिनिधित्व करते हैं, उसे कला शरीर कहते हैं। ऐसा ज्ञान एक मल है जिसे कार्ममल कहते हैं । अतः यानिवर्ग = भिन्नता का ज्ञान तथा कला शरीरम् = कर्म का स्वरूप क्रमशः मायीयमल एवम् कार्ममल हैं। ये दोनों मल भी बन्धन हैं।

समझने के हेतु 'बन्धः' शब्द को सूत्र में जोड़ देना चाहिए। तब सूत्र हो जाएगा ''योनिवर्गः कला शरीरम् बन्धः'' ।

योनिवर्ग क्या है ?

योनि = संसार का कारण

वर्ग (Class) = आपक अपने समान गुण वालों का वर्ग जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपने शरीर से जुड़ा है। यह संसार माया एवम् उसके वर्ग का उत्पाद है।

(i) आपका अपना एक वर्ग है जो प्रत्यक्षतः आपके शरीर से जुड़ा है। यह बुरा है, यह अच्छा है, यह एक अंगुली है, यह दूसरी अंगुली है, यह घुटना है – ये वक्तव्य उन वर्गों के उदाहरण हैं जो आपके शरीर से प्रत्यक्ष जुड़े हैं।

(ii) अप्रत्यक्ष जुड़ाव के उदाहरण हैं – यह पत्नी है, यह शिष्य है, यह एक नौकर है, यह एक रसोइया है, यह एक थाली है। ये सब शरीर से अप्रत्यक्ष जुड़ाव के उदाहरण हैं।

ये दो वर्ग, प्रत्यक्ष एवम् परोक्ष, शरीर के विकास के कारण हैं और कारण हैं आपके उस व्यक्तिगत अलग संसार के जो आपके शरीर से जुड़ा है। यह शरीर योनिवर्ग है अर्थात् आप हर तरह से सीमित हैं – कार्य करने की क्षमता में सीमित हो, ज्ञान में सीमित हो – यही योनिवर्ग है। तुम कला से लेकर पृथ्वी तक इस सीमितता को अनुभव करते हो – क्यों ? भिन्नता के प्रकट होने के कारण माया कलातत्व से आरम्भ होती है। माया से ऊपरी स्तर पर है शुद्धविद्या। अतः पृथ्वीतत्व से कलातत्व तक योनिवर्ग है और यही मायीयमल है।

अब कला शरीर की बात करते हैं – कला शरीर = कर्म का स्वरूप (Embodiment of action)। जब कोई कर्म (Action) तुम्हारे शरीर में प्रवेश करता है, तुम्हारे ज्ञान में प्रवेश करता है, तुम्हारे मन एवम् विचार में प्रवेश करता है और वहाँ अपनी छाप छोड़ता है तो इसे कला शरीरम् कहते हैं। यही कार्ममल है। जब कोई व्यक्ति सोचता है – मैं लुट गया, मैंने अपनी प्यारी पत्नी खो दी, मैं तो मर ही गया – यह कार्ममल है। यह भी बंधन है। स्पन्दकारिका में ये दोनों बंधन एक श्लोक में दर्शाए गए हैं – जब आप अपने स्वयं के स्वातंत्र्य से, स्वयं की स्वतंत्र इच्छाशक्ति से (तुम्हारे मल का कारण) तुम निकम्मे, मूल्यहीन, शक्तिहीन तथा कर्म करने के योग्य नहीं रह जाते तब तुममें राग (Desire) उत्पन्न होता है कि यह कर लूँ, वह कर लूँ। **(स्पन्दकारिका 1:9)**

इस मुद्दे की पूर्ण व्याख्या क्षेमराज के स्पन्द निर्णय में मिलती है। कला = एक सीमित कार्य को करना। विद्या = सीमित ज्ञान का होना। राग = हर किसी वस्तु से जुड़ने का भावावेश। नियति = किसी एक वस्तु से जुड़ाव । काल = समय के साथ बधंन, अंतरिक्ष तथा समय का बंधन।

इस सीमांकन की प्रकृति आणवमल की सतह पर स्थित होती है। जब आणवमल अस्तित्व में होता है तब अन्य दो मल मायीयमल एवम् कार्ममल भी अस्तित्व में होते हैं। जब आणवमल के अस्तित्व का अन्त हो जाता है तब अन्य दो मल भी गायब हो जाते हैं।

स्वच्छन्द तंत्र में कथन है – हम जानते हैं कि शब्द 'चैतन्य' मतलब सर्वोच्च चेतना का पूर्ण स्वातंत्र्य। आणवमल के 'कला' एवम् 'विद्या' से जुड़े होने के कारण चैतन्य खो जाता है। यह 'राग' में अन्तर्लीन हो जाता है और 'काल' के द्वारा सीमित हो जाता है। यह नियति के बंधन में सिमट जाता है। नियति = किसी एक वस्तु से जुड़ाव। नियति के कारण ही तुम सोचते हो, 'यह मेरा घर है', 'वह तुम्हारा घर है', 'यह मेरा घर नहीं है' । सत्य यही है कि यह तुम्हारा घर नहीं है लेकिन नियति ने तुम्हें यह भ्रम पैदा कर दिया है कि यह तुम्हारा घर है। यह प्रतिबंध (सीमाबद्धता) उस अहंकार के कारण और प्रगाढ हो

जाता है, जो शरीर तक सीमित होता है। यह प्रकृति में सन्निहित हो जाती है तथा तीनों गुणों (सत्व, रज, तम) से युक्त हो जाती है तथा बुद्धि में स्थापित हो जाती है। तब विश्वाहंता शरीर में अहंता तक सीमित हो जाती है। यह अहंता मन से सीमित होती है ज्ञानेन्द्रियों से सीमित होती है, कर्मेन्द्रियों से सीमित होती है, पंचतन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) से सीमित होती है और अन्त में पंचमहाभूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) से सीमित होती है – **(स्वच्छन्द तंत्र)**

मालिनीविजय तंत्र में कथन है कि कार्ममल चैतन्य के स्वरूप को ढंक लेता है। यह कर्म अच्छा और बुरा, खुशी एवम् उदासी देता है। **(मालिनीविजय तंत्र 1:24)**

खुशी गम को दूर कर देती है। गम होता है तो खुशी को दूर कर देता है अर्थात् खुशी के साथ दुःख भी होता ही है। इन दोनों में से यदि एक होता है तो दूसरा भी होता ही है।

प्रत्यभिज्ञा में उद्धरण है – आणवमल में कार्ममल एवम् मायीयमल सदा रहते हैं। इन दोनों का आधार सीमित ज्ञान है। सीमित ज्ञान विशिष्ट होता है, सामान्य नहीं। आप किसी एक वस्तु को जानते हो तो यह विशिष्ट ज्ञान है लेकिन सारे ब्रह्माण्ड का ज्ञान सामान्य ज्ञान है। प्रत्यभिज्ञा का कथन उद्धरणीय है।

आणवमल के क्षेत्र में भिन्नता का ज्ञान मायीयमल है। जब तक कर्त्ता को सामान्य ज्ञान (अभिन्नता का ज्ञान) नहीं होता तब तक कार्ममल है अर्थात् जब तक ब्रह्माण्ड का ज्ञान नहीं होता तब तक जन्म–मृत्यु का चक्र, सुख–दुःख, खुशी–उदासी का चक्र चलता रहता है।

'कर्म' अच्छा या बुरा होता है। तुम जो कुछ भी करते हो, अच्छा या बुरा कर्म होता है। अच्छे कर्म से तुम गिरते हो, बुरे कर्म से भी तुम गिरते हो। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म से उत्थान सम्भव नहीं है। मात्र स्वतंत्र क्रिया तुम्हें ईश्वर तक ले जाती है। मूलतः यह क्रिया नहीं अपितु स्वातंत्र्य है। कर्म तो सदा सीमित होता है चाहे वह अच्छा हो अथवा बुरा।

अब प्रश्न उठता है कि कैसे यह तिहरा मलावरण बंधन का कारण हो जाता है।

ज्ञानाधिष्ठानं मातृका ।। 4।।

तिहरे ज्ञान की अधिष्ठात्री विश्वजननी माँ है। तिहरा ज्ञान = आणवमल, मायीयमल, कार्ममल। यहाँ मातृका का मतलब है अज्ञातामाता। अज्ञातामाता वह स्थिति है जब विश्वशक्ति गलत तरह से जानी जाती है। जब विश्वशक्ति सही तरह से जानी जाती है तो वह है स्वातंत्र्य शक्ति। जब गलत तरह से जानी जाती है तो यह भ्रम पैदा करने वाली शक्तिहै जो मायाशक्ति कही जाती ह।

मातृका = अज्ञातामाता (जब गलत तरह से जानी जाती है)

मातृका = स्वातंत्र्य (जब सही तरीके से जानी जाती है)

अतः स्वातंत्र्य शक्तिबंधन के तीनों स्वरूपों का नियंत्रण करती है। स्वातंत्र्य तुम्हारी अपनी इच्छा है। अपने आपको बंधन में रखो अथवा स्वतंत्र कर लो, दोनों आपके हाथ में है।

तिहरा मल जैसा कि बताया गया था, वह –

(i) अपूर्ण मान्यता = अधूरेपन का अहसास = आणव मल

(ii) भिन्न वेद्य प्रथा = भिन्नता का ज्ञान = मायीय मल

(iii) शुभ–अशुभ वासना = सुख–दुःख के अनुभव = कार्म मल

इन तीन मलों की अधिष्ठात्री जगत जननी माँ है जो 'अ' से 'क्ष' तक के अक्षरों में व्याप्त है। वह हर शब्द में व्याप्त है। इतना ही नहीं, शब्दों के वाच्य अर्थात् प्रमेय संसार में भी व्याप्त है।

उदाहरणार्थ – क –ल – म । 'क' में 'ल' में तथा 'म' में तो जगज्जननी व्याप्त है ही। 'कलम' शब्द में भी वह व्याप्त है। इतना ही नहीं मेरे हाथ में जो कलम है उसमें भी वह व्याप्त है। जगज्जननी इस ब्रह्माण्ड की निर्मात्री है।

माया के क्षेत्र में भिन्नता के ज्ञान की अधिष्ठात्री माँ सीमित शक्तिवालो तथा संकुचित ज्ञान द्वारा विचरने वाली प्रतीत होती है – जैसे मैं अधूरा हूँ, मैं कमजोर हूँ, मैं सर्वाधिक किस्मतवाला हूँ, मैं एक महान गुरु हूँ, मेरे इतने शिष्य हैं, मैं विश्वप्रसिद्ध शिक्षक हूँ ..... इत्यादि। इन अक्षरों, शब्दों तथा प्रमेयों द्वारा वह कभी डरी होती है, कभी खुश, कभी चकित तो कभी क्रोध से भरी होती है, कभी मोहग्रस्त प्रतोत होती है।

अब माया के क्षेत्र में ऐसा सोचने वाले व्यक्ति का क्या होता है? तब मातृका एक भयानक काम करती है – वह उस व्यक्ति को अपना खिलौना बना लेती है।

यह विश्वजननी (चिति मातृका) ब्रह्मरन्ध्र के केन्द्र में रहती है और उसके आसपास माँ के चरणों में बैठी पीठश्वरियाँ होती हैं (पीठेश्वरी = ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवम् अहंकार) ये पीठेश्वरियाँ अतिभयानक, महाघोर हो जाती हैं।

ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, मन, बुद्धि एवम् अहंकार की देवियाँ होती हैं – गोचरी, खेचरो, दिक्चरी तथा भूचरी।

हर मोड़ पर पीठेश्वरियाँ भ्रम पैदा करती हैं तथा व्यक्ति को लगातार और अधिक बांधती जाती हैं। यहाँ मातृका मुख्य है तथा पीठेश्वरियाँ मध्यस्थ हैं।

तिमिरोद्घाट्ट में एक वक्तव्य है – ब्रह्मरन्ध्र में विश्वजननी बैठी है जिसके आसपास व्यक्ति को भ्रमित करने वाली देवियाँ एकत्रित हैं। इस व्यक्ति से मातृका खेल रही है, लेकिन माँ के साथ जो स्वयं खिलाड़ी है वह कदापि भ्रमित नहीं होता।

शब्दों के सुनने से उसे खुशी एवम् दुःख का अनुभव होता है। जैसे वह सुनता है – 'हमारा व्यवसाय घट गया है' और उसे दुःख होता है, 'हमारा व्यवसाय चौपट हो गया है' और वह भयभीत हो जाता है। इस तरह वह सुख–दुःख का शिकार बन जाता है।

इन दोनों स्थितियों में वह मातृका द्वारा खेला जाता है। वह भय का शिकार बन जाता है, वह भौतिक सुख का शिकार बन जाता है, वह योन सुख का शिकार बन जाता है। ऐसी अच्छी और बरी चीजों का हम रोजमर्रा की जिन्दगी में सामना करते हैं।

प्रमेय संसार (वाच्य) वह है जिसका नामकरण किया जाता है। प्रमाता संसार वह नाम है (वाचक) जो वस्तुओं को दिये जाते हैं। जब तुम यहाँ प्रमेय को प्रमाता से एक कर देते हो तो यहाँ बंधन है। जब वाच्य–वाचक अलग–अलग रखे जाते हैं तो कोई बंधन नहीं है।

जब कोई कहता है कि तुम्हारे पिता मर गए। तब तुम शब्द 'पिता' को अपने पिता से (वास्तविक पिता से) जोड़ देते हो तो यह बंधन है लेकिन जब दोनों को अलग रखते हो तो 'पिता' शब्द का तुम्हारे वास्तविक पिता से कोई संबध नहीं होता। 'पिता...मर....गये' मात्र एक शब्द समूह बन कर रह जाता है। इससे तुम बंधते नहीं हो लेकिन जब बंधते हो तो दुःख, सुख या भय के शिकार हो जाते हो। अतः लिखे गये अक्षरों का चरित्र ही शक्ति–चक्र को उत्पन्न करता है।

जब जगज्जननी माँ मातृका शिव की चार शक्तियों को चूमती है तो प्रत्येक भिन्न शक्तिको चूमने का अलग फल होता है (अम्बा–ज्येष्ठा–रौद्री एवं वामा) ।

जब वह 'अम्बा' को चूमती है तब तुम उत्थान या पतन से दूर रहते हो, बस वहीं रहते हो।

जब जगज्जननी 'वामा' की शक्तिको चूमती है तो व्यक्ति को परिणाम स्वरूप संसार मिलता है।

जब वह 'रौद्री' की शक्तिको चूमती है तो व्यक्ति निर्णय लेने की क्षमता को खो देता है, चाहे निर्णय अच्छा हो या बुरा।

और जब वह 'ज्येष्ठा' की शक्तिको चूमती है तो तुम आत्म–स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हो।

इन चार शक्तियों के चुम्बन से तुम अपने वास्तविक स्वरूप सर्वोच्च चेतना से दूर ही रहते हो । एक क्षण के लिए भी एकाग्रता (One pointedness) नहीं ठहरती। तुम्हारी ज्ञानेन्द्रियाँ एवम् कर्मेन्द्रियाँ तुम्हें बाहरी संसार में ले जाती हैं, भीतरी संसार में नहीं। अतः तीनों मल तुम्हारे स्वरूप का बांध लेते हैं।

स्पन्द में कहा गया है – जब तुम कोई ध्वनि सुनते हो तो स्वरूप से भटक जाते हो ..... (स्पन्दकारिका 3:13) तथा शिव की शक्तियाँ लगातार तुम्हारे स्वरूप को ढंकने के प्रति दृढ़ संकल्पित होती हैं। **(स्पन्दकारिका 3:15)**

आणवमल, कार्ममल एवम मायीयमल को समाप्त कर स्वरूप में ठहरने के उपाय का वर्णन अब किया जाता है।

उद्यमो भैरवः ।।5।।

सक्रिय जागरुकता–सजगता से सर्वोच्च चेतना तत्क्षण प्रकट हो जाती है। यह सक्रियता ही भैरव है।

यहाँ हमारा तात्पर्य सक्रिय प्रयास Active efforts से है Passive efforts निष्क्रिय प्रयास से नहीं।

यह वह प्रयास है जो चेतना से मिलकर उसका स्तर सर्वोच्च चेतना तक उठा देता है तब सर्वोच्च चेतना एकाएक प्रकट हो जाती है।

अतएव सक्रिय प्रयास ही भैरव है क्योंकि इसी से साधक भैरव स्थिति तक पहुंच पाता है।

वह सक्रिय प्रयास जो एक झटके में तुम्हारी चेतना तक पहुंच कर अस्तित्व के सर्वोच्च ज्ञान को प्रकाशित कर देता है – वह प्रयास ही भैरव है क्योंकि सारी शक्तियाँ स्वातंत्र्य शक्तिमें समाहित हो जाती ह। यह इसलिए भी भैरव है क्योंकि सारा ब्रह्माण्ड भी स्वातंत्र्य शक्तिसे भरा है तथा यहाँ भिन्नता का ज्ञान विलुप्त हो जाता है।

भैरव स्थिति तक ले जाने वाला प्रयास भी भैरव ही है। सच्चे साधकों में ऐसा प्रयास संभव है जिनकी चेतना अन्तर्मुखी होकर शिवचेतना की ओर उन्मुख होती है। सूत्र का अर्थ भी यही है।

मालिनी विजयतंत्र में उल्लेख है कि – समाधि (Trance) की अविचल स्थिति जिसमें योगी का वैयक्तिक अस्तित्व समाहित हो जाता है, 'शाम्भव समावेश' कहलाता है। गुरु द्वारा प्रदत्त शक्तिसे यह उन साधकों द्वारा अनुभव किया जाता है जो विचारो एवम् धारणाओं से मुक्त होने में सक्षम होते हैं।

(मालिनी विजयतंत्र 2:23)

जब योगो सक्षम होता है तब गुरु उसे ऊपर उठा लेता है, उसका उत्थान कर देता है लेकिन अगर साधक सक्षम नहीं है तो गुरु ऐसा नहीं कर पाता है।

स्वच्छन्द तंत्र में भी उल्लेख है – 'हे पार्वती ! सारे मंत्र उस योगी के लिए सफल होते हैं जो स्वचेतना तथा भैरव के एक होने का ही चिन्तन–मनन करता है क्योंकि वह सदा चैतन्य की सजगता से एक होता है।'

यहाँ चिन्तन–मनन का तात्पर्य है उच्चता को प्राप्त करती चेतना की अन्तर्मुखी सक्रिय स्थिति पर ध्यान केन्द्रित करना।

स्पन्दशास्त्र में भी यह वर्णित है – 'किसी एक विचार को लो। उस विचार पर चिन्तन–मनन करो पूरी एकाग्रता से। जब उस प्रथम विचार से मस्तिष्क में दूसरी हलचल आरम्भ हो तो यही स्पन्द है ओर यही उन्मेष है। स्वयं इसका निरीक्षण करो यही स्पन्द है।' **(स्पन्दकारिका 3:9)**

उन्मेष का तात्पर्य है आँखें खोलना। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जब कोई 'आँख खोलता है' तो स्वयं का स्वभाव (Nature) प्रकट करता है तथा जब 'आँख बन्द करता है' तो अपना स्वभाव छिपा लेता है।

यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि किस तरह क्षणभर में सर्वोच्च चेतना से तादात्म्य स्थापित करने से कोई 'भैरव स्थिति' में स्थापित हो जाता है जिससे वह अज्ञान का तिहरा आवरण भेद दता है और यदि क्षणभर में सर्वोच्च चेतना न पकड़ ली जाये तो फिर पकड़ी ही न जा सकेगी।

अगले सूत्र में यह व्याख्या है कि किस तरह परामर्श – तीव्र सजग ध्यान से बाहरी भिन्नता के ज्ञान की चेतना, अद्वय चेतना में विलीन हो जाती है।

शक्तिचक्र संधाने विश्व संहारः ।।6।।

शक्ति चक्र पर ध्यान करने से भिन्नता के ज्ञान का नाश होता है।

भैरव स्थिति योगी को सक्रिय चेतना के सर्वोच्च स्तर पर ले जाती है जहाँ स्वातंत्र्य शक्तिसाथ ही रहती है।

स्वातंत्र्य शक्ति भैरव से कैसे एकसार होती है? तुम उस शक्तिको भैरव रूप में पाने के लिए अपने अंगों को गतिशील रखते हुए स्वयं भीतर स्थित होकर क्रिया का निरीक्षण भीतर ही करो – यही भैरव मुद्रा है।

अक्रम एवम् क्रमिक क्रियाएँ दोनों भैरव की सर्वोच्च शक्तिमें समाहित होती हैं। ये क्रियाएं समग्र शक्तिसमूह की होती हैं।

अक्रम क्रिया (Non successive movement) एक बिन्दु है जिसमें कोई लम्बाई, चौड़ाई या ऊँचाई का आयाम नहीं है। अक्रम क्रिया में कोई यात्रा नहीं है। यह क्षणिक होती है। क्रमिक क्रिया स्तरों में होती है – यथा 1, 2, 3, 4।

अक्रम क्रिया शाम्भवोपाय का हिस्सा है तथा क्रमिक या क्रम क्रिया शाक्तोपाय का हिस्सा है। यही नहीं क्रम क्रिया आणवोपाय का भी हिस्सा है।

ध्यान की क्रम या अक्रम राह नहीं होती। क्यों? क्योंकि क्रम या अक्रम विधि में ध्यान के लिए कुछ चाहिये जिस पर ध्यान किया जा सके लेकिन यहाँ ध्यान करने के लिए कुछ भी नहीं है।

अतः स्वातंत्र्य शक्ति के स्तर पर ध्यान है ही नहीं। यह शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय या आणवोपाय का साधन नहीं है। यह अनुपम एवम् उससे भी परे है। सर्वोच्च शक्तिजहाँ तीनों उपायों को अपने से अलग कर देती है, वहीं तीनों को अपने में समाहित भी कर देती है। स्वातंत्र्य शक्तिसब कुछ अपने से विलग (Exclude) भी कर लेती है साथ ही सबको समाहित भी कर लेती है।

स्वातंत्र्य शक्ति इन उपायों को अलग क्यों कर देती है? क्योंकि कोई रास्ता अथवा उपाय है ही नहीं, कोई यात्रा ही नहीं है, कहीं जाना ही नहीं है। बस जहाँ से तुम शुरू करते हो उसी को सम्भाले रखना है। उस शुरुआती बिन्दु को पकड़े रखना है। हालांकि स्वातंत्र्य शक्ति, क्रम तथा अक्रम दोनों है लेकिन दोनों से ऊपर है क्योंकि यह शिव की सर्वोच्च शक्तिहै जो निरपेक्ष रूप से पूर्ण स्वतंत्र चेतना है।

संसार रचना का खेल (रचना–पालन–संहार) स्वातंत्र्य शक्तिका मनोरंजन (Recreation) है। कहाँ? स्वरूप के रंगमंच पर। पृथ्वी से लेकर पराप्रमातृ तक सभी इस मंच पर ठहरते हैं।

उपायों का परीक्षण करें तो – उपायों का निर्माण आणवोपाय में, उपायों का संरक्षण शाक्तोपाय में एवम् उपायों का संहार शाम्भवोपाय में पाया जाता है।

जब उच्च स्तरीय योगी शक्तिचक्र पर सतत् मनन करते हुए ध्यान करता है (जो मात्र स्वातंत्र्य शक्तिमें होता है) वह कालाग्नि रूद्र से लेकर शांतातीता कला तक का द्वैत संसार समाप्त कर देता है। कालाग्नि रूद्र पृथ्वी में ठहरता है एवम् शांतातीता कला परशिव का निवास है।

यहाँ द्वैत संसार को समाप्त करने का तात्पर्य नष्ट करना नहीं है। यहाँ उच्च स्तरीय योगी को बोध होता है कि सारा विश्व सर्वोच्च चेतना की अग्नि से एकमेक है।

भार्गशिखा शास्त्र में कहा गया है – शक्तिचक्र पर मनन करते हुए योगी सब कुछ गला देता है तथा नष्ट कर देता है। मृत्यु, समयचक्र संसार के सारे कर्म तथा सारे मनोभाव उसके एक या अनेक विचारों के प्रमेय बन जाते हैं तथा उसके स्वयं की सर्वोच्च स्थिति में सर्वोच्च चेतना में विलीन हो जाते हैं।

बीरबल शास्त्र में यह भी कहा गया है – जिस चेतना में सारे छत्तीस तत्व जलकर राख हो जाते हैं, उस चेतना को कालाग्नि रूद्र की तरह चमकता हुआ अपने शरीर में महसूस करना चाहिये।

विज्ञान भैरव के अनुसार – कालाग्नि रूद्र व्यक्ति के बाएं पैर के अंगूठे में रहता है तथा योगी को यह कल्पना करना चाहिए कि कालाग्नि रूद्र से निकली लपटों ने पूरे शरीर को भस्म कर दिया है। यह कालाग्नि ही सर्वोच्च चेतना है। ऐसी धारणा करने से सर्वोच्च चेतना, योगी की चेतना में प्रकट हो जाती ह।

मालिनी विजयतंत्र में उल्लेख है कि जो योगी अव्यक्त वर्णनातीत अस्तित्व पर ध्यान करते हैं वे 'स्व' में प्रवेश पा जाते हैं, जिसे शाक्तसमावेश कहते हैं।

(मालिनी विजयतंत्र 2:22)

इसके आगे **क्षेमराज** कहते हैं कि और अधिक स्पष्टीकरण संभव नहीं क्योंकि **मालिनी विजयतंत्र** कहता है कि इस स्थिति एवम् ममन की क्षमता मात्र उसे ही मिलती है जो गुरुचरणों की सेवा करता है। अतः और स्पष्ट वर्णन गुरुमुख से ही सुना जाना चाहिए।

संक्षेप में **स्पन्दकारिका** के प्रथम एवम् अंतिम श्लोक में यह कहा गया है कि जिसके द्वारा नेत्र खोले जाने तथा बन्द करने से क्रमशः ब्रह्माण्ड का संहार तथा निर्माण हो जाता है.....।

(स्पन्दकारिका 1:1) (उन्मेष – निमेष)

जब योगी निडरता से (Unflinchingly) सतत् एकाग्र होता है (Focused to one pointedness) तब वह सर्वोच्च चेतना में प्रवेश पा जाता है । **(स्पन्दकारिका 3:19)**

जब द्वैत संसार का अनुभव समाप्त हो जाता है तब समाधि (Mystical Trance) तथा व्युत्थान (the world of action) का भेद भी समाप्त हो जाता है।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभेदे तुर्याभोगसम्भवः ।। 7।।

उच्चकोटि का ऐसा योगी जाग्रत, स्वप्न तथा प्रगाढ़ निद्रा की भेदावस्था में भी तुर्यावस्था का अनुभव लेता है।

{एक पाठ भेद 'सम्भवः' की जगह 'संवित्' भी है। तात्पर्य यह होता है कि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुर्यावस्था संवित में स्थित है।}

{सक्रिय ध्यानशक्ति = जब योगी को न आलस्य हो, न उबासी (yawning), वह इधर–उधर झुक नहीं रहा, विचारों में बह नहीं रहा तथा एकाग्रचित्त है।}

ऐसा योगी जो सक्रिय ध्यान द्वारा सर्वोच्च चेतना का अनुभव पा लेता है (उद्यमो भैरवः) वह जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति में भी तुर्यावस्था में ही रहता है। उसके लिए जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति – तुर्यावस्था से एकीकार हैं। ऐसे योगियों के लिए संसार एवम् समाधि एक ही है। यह उस योगी को हाता है जिसने उच्चतम जागरुकता, सजगता हासिल कर ली है।

श्रीचंद्रज्ञान में कहा गया है – ''जैसे आकाश में सुन्दर पुष्प की तरह चमकता हुआ चन्द्रमा मन को मोह लेता है तथा सारे संसार को खुशियों से भर देता है, वैसे ही यह योगी संसार यात्रा करता हुआ अपनी ज्ञान किरणों से नर्क (अवीचि) से शिव तक सब कुछ पवित्र कर आनन्द से भर देता है।''

स्पन्दकारिका में व्याख्या है – ''जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के भिन्नता के ज्ञान की दशा में भी तुर्यावस्था की सर्वोच्च चेतना एकीकार होती है। **(स्पन्दकारिका 1:3)**

आगामी तीन सूत्रों में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति की व्याख्या की गई है।

ज्ञानं जाग्रत् ।। 8।।

इद्रियजन्य भिन्नता के ज्ञान की स्थिति जाग्रतावस्था है। यह बाहरी ज्ञान, वास्तविक आत्मा का ज्ञान नहीं है। यह द्वैतपरक भिन्नता का ज्ञान है।

स्वप्नो विकल्पाः ।। 9।।

भीतरी संज्ञान एवम् विचारों से मिलकर स्वप्नावस्था बनती है। यहाँ मन ही एकमात्र कार्यशील इन्द्रिय रहती है। विकल्पा का अर्थ है भीतरी अनुभव (Internal Perception)। जाग्रतावस्था में भी जब मनोजन्य अनुभव होते हैं तब वह स्वप्नावस्था ही है।

अविवेको मायासौषुप्तम् ।।10।।

सब कुछ भूलकर सजगता (Awareness) को नकारने वाली स्थिति को माया की गाढ़तम 'सुषुप्तावस्था' कहते हैं।

जो हर किसी का प्रमेय है क्योंकि यह बाहरी संसार से संबंधित है अतः जाग्रतावस्था का अनुभव है।

स्वप्नावस्था का प्रमेय हर किसी के लिए नहीं है क्योंकि स्वप्नदृष्टा अकेला ही उन प्रमेयों को देखता है जबकि बाहरी संसार के प्रमेय हर किसी के लिए हैं।

जब तुम पूरी तरह से सजगता से दूर हो, समय, स्थान में स्वयं की स्थिति से अनभिज्ञ हो। यही अज्ञानता अथवा नकारात्मकता गहरी निद्रा की स्थिति है। यही माया की स्थिति है। यह स्थिति तुम्हें तुम्हारे स्वरूप के प्रति भमात्मक धारणाओं का निर्माण कर देती है। यद्यपि यह स्वप्नविहीन स्थिति है तथापि माया की भी यही व्याख्या है। अतः यह त्याज्य ही है।

अब तक हम चेतना की तीन स्थितियों को समझ चुके हैं – जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। तीनों स्थितियों में प्रत्येक के भीतर तीन अतिरिक्त स्थितियां होती हैं। वे हैं जाग्रत में जाग्रत, जाग्रत में स्वप्न तथा जाग्रत में सुषुप्ति। इसी तरह स्वप्न में जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इत्यादि।

तुम्हें यहाँ जान लेना चाहिए कि जब जाग्रत में बाहरी सांसारिक ज्ञान हो तो यह जाग्रत में जाग्रत स्थिति है। जब जाग्रत में मात्र विचारों की स्थिति हो तो यह जाग्रत में स्वप्न है। जब जाग्रत में मोहावस्था हो, जब चेतनता–जागरण का अभाव हो तो जाग्रत में सुषुप्ति है।

जब स्वप्नावस्था में यह ज्ञान हो कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ तो यह स्वप्नावस्था में जाग्रतावस्था है। जब स्वयं को भूलकर मात्र स्वप्नदृश्य देख रहे हों तो यह स्वप्न में स्वप्न है। लेकिन जब ये स्वप्न जागने पर स्मरण नहीं रहें तो यह स्थिति स्वप्नावस्था में सुषुप्तावस्था है।

गहरी निद्रा में प्रवेश के बिन्दु पर यह अहसास कि ''अब मैं नींद में प्रवेश कर आराम करूंगा।'' निद्रा में जागरण है।

गहरी नींद से जागने पर अहसास कि मैं तो गहरी नींद में सो गया था कुछ याद ही नहीं, यह निद्रा में स्वप्नावस्था है।

यदि जागने पर यह भी अहसास न रहे कि मैं सो रहा था, कहाँ सो रहा था या कब सोया था, उठने पर अभी दिन है या रात तब यह सुषुप्तावस्था में सुषुप्तावस्था अर्थात् पूर्ण विचारहीन मोहावस्था है।

अब योग की दृष्टि से जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं का विश्लेषण करेंगे। जब योगी एकाग्र (one pointed) होकर ध्यान के लिए बैठता है तो यह योगी की जाग्रतावस्था होती है। यहां योगी यह जानता है कि वह एकाग्रता से ध्यान करने बैठ रहा है। यही धारणा है। यही सक्रिय ध्यान है।

जब एकाग्रता लगातार एक विचार को लेकर बनी रहती है तो यह योगी की स्वप्नावस्था होती है। योगी के लिए यह स्थिति जाग्रतावस्था से उच्च स्तर की है।

इससे भी उच्च स्थिति योगी के लिए गहरी निद्रा की होती है। यह तब होती है जब प्रमातृ भाव एवम् प्रमेयता एकाएक अदृश्य हो जाते हैं। इसे ही समाधि कहते हैं। समाधि = चेतना की विचारहीन अवस्था।

इसीलिए **मालिनी विजय तंत्र** में तोनों अवस्थाओं जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति को एक दूसरे में उपस्थित दिखाया गया है। अतः जाग्रत में जाग्रतावस्था, जाग्रत में स्वप्नावस्था एवम् जाग्रत में निद्रावस्था होती है। इसी तरह स्वप्नावस्था एवम सुषुप्तावस्था में भी जाग्रत, स्वप्न एवम् सुषुप्ति होती है।

यौगिक दृष्टिकोण से यह व्याख्या भी है –

अबुद्ध	–	जाग्रतावस्था में जाग्रतावस्था
बुद्ध	–	स्वप्नावस्था में जाग्रतावस्था
प्रबुद्ध	–	सुषुप्तावस्था में जाग्रतावस्था
सुप्रबुद्ध	–	चतुर्थावस्था में जाग्रतावस्था (तुर्य)

इस प्रकार ये तीन अवस्थाएँ सांसारिक एवम् यौगिक दृष्टिकोण से समझाई गई ह।

उच्चकोटि का योगी वह होता है जिसने शक्तिचक्र पर ध्यान कर संसार को नष्ट कर दिया है। इस प्रकार विस्तृत चतुर्थावस्था (तुर्यावस्था) को प्राप्त हो गया है। इतना ही नहीं, जो चारों स्थितियों (जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति एवम् तुर्य) में सर्वोच्च चेतना को पा लेता है, वह तुर्य के शिखर पर स्थित होता है जिसे तुर्यातीतम् कहते हैं।

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं ।
भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी ।
चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ।

(कठोपनिषद्)

त्रितयभोक्ता वीरेशः ।। 11।।

जो योगी जाग्रत, स्वप्न एवम् सुषुप्ति तीनों में जागरूकता बनाये रख कर सर्वोच्च चेतना से एकात्मकता का आनन्द लेता है वह योगी समस्त शक्तियों को वश में कर लेता है।

जब यह योगी शक्तिचक्र पर ध्यान कर जाग्रत, स्वप्न एवम् सुषुप्ति तीनों को वश में कर लेता है तब तीनों स्थितियों में द्वैत के विचारों का पूर्ण अभाव होता है और यह योगी आनन्द रस से परिपूर्ण तीनों स्थितियों में चैतन्य का आनन्द लेते हुए तुर्यावस्था में लीन रहता है। तुर्यावस्था में जाग्रत, स्वप्न एवम् सुषुप्ति एक हो जाते हैं और योगी वीरेश कहलाता है।

वीरेश इन्द्रिय शक्तिका स्वामी होता है, इन्द्रिय वृत्ति का नहीं क्योकि जब वह कुछ भी करता है, खाता है, सूंघता है, छूता है, बोलता है तब वह लगातार सजग (Aware) रहता है।

ऐसा योगी संसार के हर अनुभव में प्रमेयभाव तथा प्रमातृता को एक साथ अनुभव करता है। सामान्य व्यक्ति भी कुर्सी देखकर कुर्सी का अनुभव करता है लेकिन अनुभव करने वाले के प्रति अनभिज्ञ रहता है। योगी, कुर्सी तथा उसको अनुभव करने वाले दोनों के प्रति सजग रहकर दोनों में लिप्त नहीं रहता अर्थात् दोनों से ऊपर बना रहता है।

ऐसा योगी विश्वप्रमातृ के अद्वितीय साम्राज्य का आनन्द लेता है। वह सर्वोच्च आनन्द से भरा होता है तथा उन योगियों का गुरु हो जाता है जो भिन्नता के ज्ञान को नष्ट करने में प्रयासरत हैं।

ऐसा योगी 'मंथन भैरव' से एकाकार हो जाता है। मंथन भैरव वह भैरव है जो प्रमेय, प्रमाता एवम् प्रमाण को चेतना में विलीन कर एक अभिन्न, सर्वोच्च चेतना का निर्माण करता है – यही गूढ़ तंत्रों का कथन है।

दूसरी ओर एक सांसारिक व्यक्ति तीनों स्थितियों – जाग्रत, स्वप्न एवम् सुषुप्ति के हाथों खिलौने बने रहते हैं तथा जो अभिन्नता के सर्वोच्च ज्ञान तक न पहुंच पाए हैं ऐसे योगी भी संसारी व्यक्ति की तरह योग की दृष्टि से पशुवत होते हैं। यही बात **स्वच्छन्द तंत्र** में अच्छो तरह समझाई गई है। जिस योगी ने अनाश्रित योग को अपना लिया है तथा अनाश्रित योग द्वारा आश्रित राह से चल कर अनाश्रित स्थिति को प्राप्त हो जाता है वह अनाश्रित शिव में प्रवेश पा जाता है। **(स्वच्छन्द तंत्र 7/260)**

स्पन्दकारिका में उल्लेख है – 'ऐसा योगी स्पन्द का ज्ञान, जाग्रत, स्वप्न एवम् सुषुप्ति में एक जैसा सहेजे रहता है। ' **(स्पन्दकारिका 1–17)**

इस योगी को स्पन्द का ज्ञान तीनों अवस्थाओं में एक समान रहता है। इसीलिए यह योगी तीनों अवस्थाओं में तुर्यावस्था का अनुभव करता है।

अब एक नया प्रश्न – क्या कोई ऐसे लक्षण हैं जिन्हें देखकर कोई यह विश्वास कर ले कि यह योगी परम शिवावस्था को प्राप्त है? अगले सूत्र में इसी प्रश्न का उत्तर समाहित है ।

विस्मयो योगभूमिकाः ।। 12।।

ऐसे योगी का मुख्य लक्षण है आनन्द मिश्रित विस्मय ।

संस्कृत शब्द 'विस्मय' का तात्पर्य है – आनन्द से भरा चाकित्य। जैसे कोई व्यक्ति अद्भुत दृश्य देखकर चकित एवम् आनन्द से भर जाता है। ठीक ऐसे ही यह योगी भी आनन्दित एवम् चकित हो जाता है। यह प्रमेय संसार में प्रमातृता का अद्भुत अनुभव पूरी सजगता से करता है। यह अनुभव अपूर्व, गहन, ताजा एवम् खुश कर देने वाला होता है। इस अनुभव से योगी के अंग–प्रत्यंग खिल उठते हैं तथा आनन्द का निरपेक्ष अनुभव होता है।

यह कैसा विस्मय है? यह योगी अनन्त आनन्द की स्थिति में प्रवेश कर कभी पूर्ण तृप्ति का अनुभव नहीं करता वरन् तृप्ति के आनन्द में नहाता ही चला जाता है। यह योगी की मुख्य स्थिति है जो सर्वोच्च चेतना से एक हो गया है। अतः हम कह सकते हैं कि वह शिवावस्था को प्राप्त हो गया है।

यह ध्यान देने योग्य है कि मूलाधार में एक आनन्ददायक चेतना की स्थिति या दोनों नेत्र और भौहों के बीच प्रकाश, शिवावस्था की स्थिति नहीं है। ये दोनों स्थितियां त्याज्य हैं। एकमात्र लक्षण जो शिवावस्था को प्राप्त योगी को होती है, वह आनंदातिरेक तथा विस्मय की है।

कलायुक्त शास्त्र – ''जब योगी स्वयं के प्रयास से आत्मानुभव करता है तब उसकी आत्मा में उस विस्मय की पूर्णता के साथ आनन्दानुभूति होती है।''

स्पन्दकारिका – ''जब योगी स्वयं के सत्य को आत्मानुभूति से जानता है तब वह अनुभव करता है कि वह ही सत्य है। आनन्द, विस्मय से सराबोर उसके लिए जीवन–मरण के चक्र में पुनः यात्रा के लिए कोई संभावना नहीं है।'' **(स्पन्दकारिका 1:11)**

ऐसे योगी के लिए –

इच्छाशक्तिरुमा कुमारी ।।13।।

ऐसे योगी की इच्छा ही परमशिव की स्वातंत्र्य शक्तिहै। इसो स्वातंत्र्य को 'शक्ति', 'उमा' एवम् 'कुमारी' नाम दिए गए हैं।

भैरवावस्था को पहुँचे योगी की इच्छा ही परमशिव की स्वातंत्र्य शक्तिहै। इस स्वातंत्र्य का ही नाम 'उमा' है। इस योगी की इच्छा को कोई 'कुमारी' भी कहते हैं। 'कुमारी' शब्द की व्याख्या कई तरह से की जा सकती है :–

(1) संस्कृत में कुमारी का एक अर्थ है 'क्रीड़ा' अर्थात् खेल। कहने का तात्पर्य यह है कि वह शक्तिजो लगातार खेल में संलग्न है। 'खेल' अर्थात् संसार का खेल – सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव, अनुग्रह।

(2) कुमारी = कुं मारयति । यहाँ कुं भिन्नता का ज्ञान, मारयति = शक्तिजो भिन्नता के ज्ञान को नष्ट करती है एवम् स्वभाव (आत्मा) को प्रकट करती है।

(3) कुमारी = अविवाहित (virgin)। जिसे किसी अन्य ने नहीं भोगा। वह स्वयं ही भोक्ता है। भोगने के लिए उसे किसी और वाहक की जरूरत नहीं है। वह स्वयं ही भोक्ता, भोग्य एवम् भोग है। यही कौमार्य है। कुमारी सदा अपने स्वरूप में स्थित होती है तथा स्वयं में ही पूर्ण एवम् संतुष्ट होती है।

(4) शिव को पाने से पहले माँ 'उमा' सांसारिक सुख से पूरी तरह दूर थीं। शिव को पाने के उद्देश्य से जब उमा ने साधना की तब उनका मन पूरी एकाग्रता से शिव का ही ध्यान करता था तथा ऐसा करते–करते वे शिवरूप ही हो गई थीं। ऐसे ही यह योगी, ''स्वभाव'' की एकमात्र इच्छा करते हुए परम चेतना से एक रूप हो जाता है।

इस सूत्र में एक पाठभेद भी है। 'शक्तिररुमा कुमारी' की जगह 'शक्तितमा कुमारी' है, ऐसा कुछ विद्वानों का कथन है तब सूत्र का अर्थ हो जाएगा – ''इस योगी की इच्छा, ज्ञान एवम् क्रिया से भरी होती है।''

अतः यह योगी जो तीनों अवस्थाओं में योगस्थ रहता है तथा विस्मय से परिपूर्ण होता है, सामान्यजनों की तरह सांसारिक इच्छाओं से भरा नहीं होता अपितु उसकी इच्छाशक्ति परमशिव की इच्छाशक्ति से एकाकार होती है। अतः कोई भी शक्तिउसकी इच्छा को रोक नहीं सकती।

स्वच्छन्द तंत्र में इसी बात का उल्लेख है – परमशिव की इच्छाशक्ति (स्वातंत्र्य शक्ति) ही देवी है जो भिन्न–भिन्न नामों से जानी जाती है। यह शक्तिही 'कुमारी' है जिसे सब पाना चाहते हैं।

(स्वच्छन्द तंत्र 10:727)

सभी जन ऐसी शक्तिचाहते हैं जिससे उन्हें हर इच्छित वस्तु प्राप्त हो सके।

नेत्र तंत्र में कहा है – ''हे पार्वती ! उस योगी की इच्छा मेरी इच्छा से एक सार है। यह इच्छा मुझसे भी एक सार है तथा मेरे अस्तित्व से उठती है। (विशेष : शिव की इच्छा इन्द्रियों से नहीं वरन् अस्तित्व से उठती है)''

इस योगी की इच्छाशक्ति विश्व का कारण बन जाती है क्योंकि यह शिव की शक्तिसे एकाकार हो जाती है। जैसे उष्मा अग्नि से और किरणें सूर्य से एक हो जाती हैं। **(नेत्र तंत्र 1:25–26)**

स्पन्दकारिका में सार रूप से कहा गया है – वह योगी अपनी इच्छाशक्ति को इन्द्रियों से नहीं जोड़ता लेकिन जब वह कुछ भी इच्छा करता है वह सम्पन्न हो जाती है। वह कुछ भी पाने या करने को आतुर नहीं होता लेकिन जैसे ही वह इच्छा करता है, वह सर्वोच्च प्रमातृता की शक्तिसे तुरन्त पा लेता है। (स्पन्दकारिका 1:8)

दृश्यम् शरीरम् ।।14।।

यह सारा दृश्य जगत् उसका अपना ही शरीर (विस्तार) है।

अथवा

उसका स्वयं का शरीर भी उसके लिए दृश्य है।

इस सूत्र में संस्कृत शब्द ''दृश्यम्'' का अर्थ है प्रमेय संसार। अतः सूत्र का मतलब हुआ यह सारा संसार उसका अपना ही 'स्व' है या यूँ कहें कि उसकी अहंता सारे संसार में व्याप्त हो गई है।

इस सूत्र की एक और भी व्याख्या हो सकती है : वह अपने शरीर को भी प्रमेय या दृश्य की तरह देखता है अर्थात् शरीर से भी अपनी अहंता मिटा देता है और स्वयं को चेतना रूप से जानता है।

इस प्रकार एक तरीके से व्याख्या करने पर कहेंगे कि यह पूरा संसार सर्वोच्च प्रमातृता से एक होने पर उसे स्वयं का ही विस्तार जान पड़ता है और दूसरे तरीके से व्याख्या करने पर योगी द्वारा स्वयं के शरीर को प्रमेय (Object/वस्तु) की तरह जानने पर जोर दिया गया है।

एक सामान्य व्यक्ति की अहंता उसके शरीर से होती है। तब वह कहता है – ''मैं बीमार हूँ, मैं कमजोर हूँ, जबकि बीमारी अथवा कमजोरी शरीर का धर्म है। उसके चैतन्य शरीर में बीमारी या कमजोरी नहीं होती। वह अपने शरीर को जागृतावस्था, स्वप्नावस्था, निद्रावस्था तथा शून्यावस्था में भी बाहरी वस्तु की तरह देखता है।

(शून्यावस्था मृत्यु के समय आती है जो एक जन्म से दूसरे जन्म के बीच की कड़ी है। मृतक का सूक्ष्म शरीर शून्यावस्था को प्राप्त करता है तथा वैदिक कथनानुसार यह अवस्था 10 दिनों तक रहती है तदन्तर अगले शरीर में प्रवेश होता है। लेकिन जो सर्वोच्च चेतना से एक हो जाता है उसके लिए यह मृत्यु एवम् पुनर्जन्म का चक्र समाप्त हो जाता है।)

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि कैसे वह स्वयं के शरीर को तो वस्तु की तरह देखता है और पूरे संसार को या यों कहें कि ब्रह्माण्ड को अपने शरीर की तरह देखता है।

सत्य यही है कि सारा संसार उसी एक 'चैतन्य' का धरा हुआ रूप है जो उस योगी का भी सत्य है। इस प्रकार सारा ब्रह्माण्ड योगी का शरीर ही तो हुआ।

वह मात्र स्वयं के शरीर में अहंता तथा शरीर के बाहर प्रमेयता आरोपित करने की गलती नहीं करता। अतः ब्रह्माण्ड के एक हिस्से में (शरीर में) अहंता तथा शेष संसार में प्रमेयता का अनुभव मायाजन्य एवम् गलत है।

उसे 'अहम् इदम' का अनुभव होता है कि ''यह ब्रह्माण्ड मेरे चैतन्य शरीर का अंग है। वह सारी भिन्नता में अभिन्न चैतन्य को देखता है। यही 'सदाशिव' स्थिति का अनुभव है।

उसके लिए स्वयं के शरीर तथा संसार के विभिन्न प्रमेयों में कोई भेद नहीं होता जैसे मयूर के अण्डे की जर्दी में कोई भिन्न–भिन्न अंग या रंग नहीं दिखते। उसे संसार चैतन्य एवम् आनन्द के तरल से बना दिखाई देता है। उसे स्वयं तथा अन्य का भेद नहीं होता। उसे किन्हीं दो जीवों या दो वस्तुओं में भी भेद प्रतीत नहीं होता वरन् सारा विश्व आनन्द से एक ही दिखाई देता है।

विज्ञान भैरव का कथन है – ''जैसे लहरें जल से अलग कुछ नहीं होतीं, ज्वालाएँ अग्नि से अलग कोई अस्तित्व नहीं रखतीं, सूर्य और किरणों का भी यही सत्य है। वैसे ही इस ब्रह्माण्ड की धारा का प्राकट्य मुझसे ही हुआ है जो सर्वोच्च चेतना है। वही भैरव है।'' **(विज्ञान भैरव 110)**

स्पन्दकारिका में उपसंहार किया गया है – ''प्रमातृ शक्ति प्रमेय शक्तिमें स्थापित है। प्रमातृ एवम् प्रमेय शक्ति एक ही है। प्रमेय संसार प्रमातृ संसार से एक है। अतः यह सब प्रमाता का ही साम्राज्य है प्रमेय का नहीं।'' **(स्पन्दकारिका 2:4)**

ऐसा योगी संसार को स्वयं का अंग तथा स्वयं के शरीर को वस्तु की तरह देखता है। यह उसके लिए कठिन नहीं है क्योंकि –

हृदये चित्तसंघट्टाद् दृश्यस्वापदर्शनम् ।।15।।

अब योगी के विचार सर्वोच्च चेतना के केन्द्र की ओर अभिमुख हो जाते हैं तब योगी संसार के प्रमेयों में तथा काल्पनिक वस्तुओं में भी सर्वोच्च चेतना के दर्शन करता है।

अब योगी के सारे विचार चेतना के प्रकाश की ओर उन्मुख होते हैं। यहाँ 'हृदये' का तात्पर्य शारीरिक हृदय से नहीं वरन् चितप्रकाश से है जो सारी गतिविधियों का आधार है, जो ब्रह्माण्ड के अस्तित्व का आधार है। इसी आधार पर जन्म, मरण, दुःख, सुख, हंसना, बोलना सब हो रहा है। हर वस्तु या

गतिविधि का केन्द्र चित्प्रकाश ही है। यह योगी बाह्य संसार में तथा कल्पनालोक के असंभव प्रमेयों में भी सर्वोच्च चेतना का एकसार (अभिन्न) दर्शन करता है।

यह प्रमेय संसार को नकारने वाला अनुभव गहरी नींद में तथा मृत्यु के समय होता है और इन स्थितियों में भी योगी निःप्रयास ही सर्वोच्च चतना का अनुभव करता है। वह यह कैसे कर पाता है? वह ऐसा अपने मन को एकाग्र कर एक बिन्दु पर केन्द्रित करने से कर पाता है।

यद्यपि मन बहुत चंचल होता है तथा एक बिन्दु पर नहीं ठहरता तथापि साधना द्वारा योगी एकाग्रता को प्राप्त कर लेता है। अब वह प्रमेयता एवम् प्रमातृता भेद को त्याग देता है। जब वह प्रमेयता को देखता है तो पाता है कि प्रमेयों में न केवल बाहरी वस्तुएँ हैं वरन् उसका स्वयं का शरीर जाग्रतावस्था का, स्वप्नावस्था का एवम् निद्रावस्था का। इतना ही नहीं इन सबको नकारने वाली शून्यावस्था को भी वह दिव्य ब्रह्माण्डीय शरीर की भुजाओं की तरह देखता है। जब तुम्हारा मन चित्प्रकाश में प्रवेश करता है तब उसे विश्वजीव से एकता का अनुभव होता है।

विज्ञान भैरव का कथन – ''हे पार्वती ! वह जो योगी समस्त इन्द्रियों को एवम् मन को एकाग्रता से हृदय के शून्य की ओर उन्मुख कर देता है जहाँ चेतना का प्रकाश है तथा अहम् (I-ness) एवम् इदम (This ness) के बीच स्थित हो जाता है वह शिव चेतना से चमत्कृत हो जाता है अर्थात् सारे अस्तित्व का शासक हो जाता है।'' **(विज्ञान भैरव 49)**

''ऐसा योगी, जो 'सर्वाहन्ता' में स्थित है, ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो जाता है। वह सारे अस्तित्व में व्याप्त हो जाता है। वह जड़ चेतन तथा सारे जीवों से एक हो जाता है। उसकी चेतना विश्व चेतना में बदल जाती है।'' **(स्वच्छंद तंत्र 4:310)**

स्पन्दकारिका में वर्णन है – ''अलग–अलग जीवों में रहने का प्रयास मत करो। अपने 'स्व' में स्थित रहो, ऐसा करने से तुम पूरी सृष्टि में स्थित हो जाओगे क्योंकि तुम्हारा 'स्व' ही पूरी सृष्टि है।''

(स्पन्दकारिका 3:7)

अगर तुम अपने 'स्व' में स्थित हो गए तो सृष्टि के 'स्व' में स्थित हो गए।

योग की यह स्थिति पाने के लिए अब अन्य उपाय बताते हैं –

शुद्धतत्वानुसंधानाद्वाऽपशुशक्तिः ।।16।।

शुद्ध शिवतत्व पर ध्यान करने से योगी को शिव की असीम शक्तिमिल जाती है। इस सूत्र में शुद्ध तत्व का तात्पर्य परशिव से है। हमें क्या करना है? हमें इस विश्व प्रमातृता को परशिव की सर्वोच्च चेतना में प्रविष्ट करना है। हमें बोध होना चाहिए कि यह सृष्टि शुद्ध तत्व में स्थित है। यहाँ अपवित्र वस्तु कुछ भी नहीं है। सब कुछ दिव्य है।

जब तुम शुद्ध तत्व पर ध्यान स्थिर करते हो तथा यह चिन्तन करते हो कि यह सृष्टि शुद्ध तत्व में स्थित है तब तुम बन्धनकारक शक्ति–चक्र (जो भिन्नता के ज्ञान का चक्र है) से मुक्त हो जाते हो तथा उस चक्र का त्याग कर देते हो। तत्क्षण तुम सदाशिव की स्थिति (परशिव या शुद्ध तत्व) को प्राप्त कर लेते हो।

लक्ष्मी कुलार्णव तंत्र में वक्तव्य है – दीक्षा उपरान्त प्राप्त यौगिक शक्तियाँ इस सर्वाहन्ता (मन्त्र वीर्य) की तुलना में सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है। ये यौगिक शक्तियाँ त्याज्य हैं। तुम्हें मन्त्र वीर्य (सर्वोच्च प्रमातृभाव) प्राप्त करना तथा उसमें स्थिर रहना है। यही संधान कहलाता है। संस्कृत शब्द 'संधान' का अर्थ निशाना साधना (Aiming) तथा उसमें प्रवेश पाना है। ध्यान कर उसमें प्रवेश पाना, ध्यान कर उसका आनन्द लेना, ध्यान कर उसको पाना यानि मात्र ध्यान करना (Aiming) नहीं वरन् एक बार ध्यान कर उसे प्राप्त कर लेना है और यही संधान है। (संधान = लक्ष्य करना तथा लक्ष्य भेदना) ।

विज्ञान भैरव भी यही बात इंगित करता है – ''एकाग्रता से महसूस करो कि यह सृष्टि एवम् तुम्हारा शरीर एक साथ ईश्वर चेतना से एक है तब चेतना उठकर सर्वोच्च चेतना से एक हो जाती है।''

(विज्ञान भैरव 36)

स्पन्दकारिका में भी उल्लेख है – ''वह योगी जिसका ऐसा अनुभव है उसके लिए यह संसार एक खेल का मैदान है। वह हमेशा आनन्दमग्न रहता है। निश्चय ही वह जीवन मुक्त है।'' **(स्पन्दकारिका 2:5)**

उस ज्ञानी योगी के लिए –

वितर्क आत्मज्ञानम् ।।17।।

उस योगी का कोई भी निष्कर्ष उसके स्वरूप का सच्चा ज्ञान ही है। यह योगी जो कुछ भी सोचता है, जो कुछ भी निश्चय करता है, वह उसका आत्मज्ञान ही है। उसका सतत् अनुभव है – 'मैं शिव हूँ – यह विश्व मैं हूँ' यह उसका अपना ज्ञान है।

विज्ञान भैरव में भी वक्तव्य है – 'परमेश्वर सब जानता है, सब करता है तथा सबको व्यापता है। योगी विचारता है – 'मेरा आत्मा ही शिव है, मेरी दृष्टि ही शिव की दृष्टि है।' ऐसा ध्यान करते समय वह शिव स्वरूप हो जाता है।' **(विज्ञान भैरव 102)**

स्पन्दकारिका में भी कहा गया है – ..... यही वास्तव में विचारों की एकाग्रता है।

(स्पन्दकारिका 2:7)

स्पन्दकारिका के इस छन्द में हमें कहा गया है कि व्यक्तिगत अहंता (Individual-I) का सृष्टि की अहंता से एक हो जाना (One with universal I) ही आत्मज्ञान है।

इस योगी के बारे में और भी कहते हैं –

लोकानन्द : समाधिसुखम् ।।18।।

उस योगी को समाधि में मिला आनन्द सारी सृष्टि के लिए आनन्द है। इस योगी को कुछ करना नहीं होता। उसे बस समाधि म रहना होता है और वह पूरी सृष्टि को सर्वोच्च आनन्द में ले जाता है।

'लोक' संस्कृत का शब्द है। इसकी दो तरह से व्याख्या हो सकती है। जो कुछ अनुभव किया जाता है वह लोक है तथा अनुभव करने वाला भी 'लोक' है।

जब प्रमेय संसार तथा प्रमातृ संसार एक साथ गतिशील होते हैं तब क्या होता है?

प्रत्येक व्यक्ति प्रमेय संसार को प्रमातृ संसार से पृथक समझता है लेकिन योगियों के लिए विशेष अपवाद है। जब योगी प्रमेय संसार का अनुभव करता है तो प्रमेय संसार में प्रमातृ संसार एवम् प्रमातृ संसार में प्रमेय संसार का एक साथ अनुभव करता है। उसके लिए दोनों संसार में कोई भेद नहीं है क्योंकि उसकी चेतना सभी जगह ठहरी होती है। **(विज्ञान भैरव 106)**

विज्ञान भैरव के इस कथन के अनुसार जब योगी पूरी सजगता से प्रमातृता में ठहरता है और आत्मस्वरूप का पूरा आनन्द लेता है (इसे चमत्कार कहते हैं) तो इसे उसका समाधि सुख कहते हैं।

विज्ञान भैरव में ही कथन है कि जब एक योगी ध्यान करता है तो उसका शरीर या पूरी सृष्टि एक साथ आत्मानन्द से भर जाती है जिसकी लहरों से वह आनन्द स्वरूप हो जाता है। **(विज्ञान भैरव 65)**

स्पन्दकारिका में भी संक्षिप्त वर्णन है –

''.....इसी को कहते हैं सर्वोत्तम अमृत की प्राप्ति।'' **(स्पन्दकारिका 2:7)**

इस सूत्र की एक और व्याख्या है – ''यह योगी जो स्वात्म में ही विश्राम करता है जब भी अन्तर्मुखी होकर आत्म–विमर्श करता है तब वह समाधि का आनन्द लेता है। यदि कोई दर्शक इस योगी को देखकर सोचता है कि यह योगी समाधि का आनन्द ले रहा है तो वह दर्शक तत्क्षण समाधि में प्रवेश पा लेता है। यह एक काबरा सर्प का सामना एकदम निकट से करने जैसा है।

जब आप कोबरा सर्प का सामना पास से करे एवम् वह आपको काट ले तो पूरे शरीर में जहर फैल जाएगा। उसी प्रकार योगी जो समाधि के आनन्द में लीन है को, निकट से देखने पर आप समझ जाते हैं कि वे आत्मानन्द में लीन हैं और आप भी तुरन्त समाधि का आनन्द लेने लगते हैं। इससे प्रकट होता है कि कैसे यह आनन्द पूरे संसार को अर्पित होता है।

''उस योगी का आनन्द उस दर्शक में क्षणभर में प्रवेश पा लेता है तथा वह (दर्शक) भी आनन्दरूप हो जाता है।'' **(चन्द्रज्ञान ग्रन्थ)**

अब हम समझेंगे कि उस योगी को कौन सा यौगिक गौरव प्राप्त हो जाता है –

शाक्तसंधाने शरीरोत्पत्तिः ।।19।।

तात्पर्य यह है कि उस योगी की इच्छाशक्ति द्वारा अनुप्राणित होने पर हर इच्छित वस्तु मूर्त्तरूप ले लेती है। उस योगी को परशिव से यह प्रार्थना नहीं करना पड़ती कि इन लोगों को ऐसा वर प्रदान करो अथवा ऐसी कृपा करो। उसे मात्र अपनी इच्छाशक्ति द्वारा अनुप्राणित करना होता है कि ''इस व्यक्ति को यह मिल जाए'' और यह हो जाता है। शक्तिसंधान का यही मतलब है।

यहाँ वह इच्छा की सर्वोच्च शक्तिद्वारा चाही गई वस्तु पर लक्ष्य करता है जो उसके भक्त द्वारा चाही गई है और तुरन्त ही वह हो जाता है जो चाहा गया है। यहाँ कोई बाधा नहीं आती। ऐसे योगी की इच्छा शिव की स्वातंत्र्य शक्तिसे एक होती है जो पूरी तरह स्वतंत्र है तथा जिसे राका जाना संभव नहीं है।

जब भी यह योगी अपनी इच्छा को पूर्ण हृदय से लक्ष्य करता है तो जो चाहा जाए हो जाता है। यह ऊपरी मन से या आधे हृदय से चाहा गया लक्ष्य नहीं है।

मृत्युंजय भट्टारक (नेत्र तंत्र) में भी यह कहा गया है – ''जिस क्षण उस योगी ने कुछ भी इच्छा की तो इच्छाशक्ति उसी क्षण उसे पूरी करने की प्रक्रिया आरम्भ कर देती है। उस योगी की इच्छा निर्दोष होती है तथा सामान्य मनुष्य की कल्पना से परे है। यह इच्छा ही नहीं ज्ञान एवम् क्रिया भी है। इस योगी की इच्छाशक्ति समस्त देवी–देवताओं की शक्तिहोती है। जो कुछ भी वह पूरे हृदय से इच्छा करता है उसे सृष्टि में कोई भी नहीं रोक सकता। वह इच्छा पूरी होती ही है। इस योगी की इच्छा में सब कुछ समाहित होता है। यह शक्तिअग्नि की तरह एकाएक कार्य करती है तथा चन्द्रमा की तरह परमशांति में चमकती है।''

(नेत्रतंत्र 7:36–40)

लक्ष्मीकुलार्णव तंत्र में योगी की इच्छा लक्षित करने का गौरव वर्णित है। जब तक योगी की इच्छाशक्ति एकाग्र होकर घनीभूत नहीं होती तब तक न दोक्षा सफल होती है और न ही शक्तिपरिलक्षित होती है। दीक्षा के मंत्र व्यर्थ हो जाते हैं। मंत्रों का सही उच्चारण समझ नहीं आता । **(लक्ष्मीकुलार्णव तंत्र)**

जब शिष्य प्रथम बार मंत्रोच्चार करता है तो वह नही समझ पाता कि कैसे सही जप करना है। समय के साथ लगातार उच्चारण करते रहने से ऐसा समय आता है जब जप का मर्म समझ में आता है। इसे ही ''मंत्रयुक्ति'' कहते हैं। मंत्रयुक्ति एक निश्चित समय तक जपने के बाद स्वतः ही आ जाती है। लेकिन जब तक इच्छाशक्ति की एकाग्रता नहीं होती मंत्रयुक्ति सम्पन्न नहीं होती और न ही योग सफल होता है। **(लक्ष्मीकुलार्णव तंत्र)**

स्पन्दकारिका में वर्णन है – ''योगी जो संसार से लिप्त है, अपनी इच्छित वस्तु परमसत्ता से प्राप्त कर लेता है। यह कार्य इच्छाशक्ति को एकाग्र कर मात्र श्वास निःश्वास द्वारा सम्पन्न कर लेता है।''

(स्पन्दकारिका 3:1)

उसे मात्र एक बार श्वास लेने तथा एक ही बार श्वास छोड़ते हुए अपनी इच्छा को घनीभूत करना होता है और इच्छित वस्तु प्राप्त हो जाती है। न समय, न दूरी, न इन्तजार।

ऐसा उन्हीं योगियों द्वारा होता है जो शरीर से जुड़े हैं, शिष्यों से जुड़े हैं तथा जनता से जुड़े हैं। सर्वोच्च चेतना से कुछ नीचे उतरे योगियों को ऐसी शक्तिप्राप्त होती है। उच्चकोटि के योगियों में ऐसी शक्तिका उदय नहीं होता क्योंकि वे सदैव भीतर उतर कर (अंतर्मुखी होकर) स्वातंत्र्य शक्तिसे जड़े रहते हैं। उन्हें इन शक्तियों की अथवा संसार की चिन्ता नहीं रहती है।

लेकिन जिन योगियों के मन में देह प्रमातृता का प्रभाव नहीं रहता है तथा भीतरी चेतना बाहरी चेतना से बढ़ी हुई है, उनके लिए वे जो बनाना चाहते हैं, जो बनना चाहते हैं, तुरन्त ही सम्पन्न हा जाता है, मात्र एक श्वास–निःश्वास द्वारा।

श्वास अर्थात् प्रकाश

निःश्वास अर्थात् आनन्द

प्रकाश एवम् आनन्द से ही श्वास–निःश्वास का उदय होता है जो चन्द्र एवम् सूर्य स्वरूप होते हैं तथा इनके बीच में (दोनों के केन्द्र में) प्राणशक्ति रहती है।

स्पन्दकारिका के इस श्लोक का भावार्थ यही है –

''इसी तरह स्वप्नावस्था में वह अपनी इच्छा से कोई स्वप्न देख सकता है।'' (स्पन्दकारिका 3:2)

यह स्थिति शैव मत की माया तथा वेदान्तियों की प्रकृति की अवधारणा से भिन्न है। वेदान्तियों के अनुसार स्वप्नावस्था का नियंत्रण प्रकृति करती है तथा शैव मतानुसार माया इसका नियंत्रण करती है लेकिन ऐसा योगी अपनी इच्छा से कोई भी स्वप्न देख सकता है। उसे माया अथवा प्रकृति से कोई सरोकार नहीं होता। इसे स्वप्न–स्वातंत्र्य कहते हैं। अतः ऐसे योगी के लिए मात्र जाग्रतावस्था ही स्वतंत्रतावस्था नहीं होती अपितु स्वप्नावस्था भी स्वतंत्रतावस्था होती है।

यह योगी हर जगह पूरे होश में होता है। जब वह मृत्यु को प्राप्त होता है तब भी पूरी तरह होश में होता है। जो व्यक्ति उस परम चेतना से अनभिज्ञ होता है वह हर जगह गैर जागरुक होता ह। जागरण, स्वप्न तथा निद्रा सभी जगह उसे जागरुकता का अभाव होता है। जब वह स्वप्नावस्था में होता है तो वह यह नहीं जानता कि किस क्षण उसने स्वप्नावस्था में प्रवेश किया और जब वह स्वप्नावस्था से बाहर आता है तो भी वह नहीं जानता कि कब वह स्वप्नावस्था से बाहर आ गया अर्थात् जाग गया। इसी तरह उसे मृत्यु के क्षण का भी स्मरण नहीं होता। उसे स्वप्न से स्वप्नहीन निद्रा में प्रवेश का भी अहसास अथवा स्मरण नहीं होता।

इसके विरुद्ध जो योगी इन तीन बिन्दुओं का स्मरण रखता है, स्वाभाविक रूप से मृत्यु के क्षण का भी स्मरण रखता है। वह पूरे होशोहवास में शरीर त्यागता है। यहाँ मूल बात जागरुकता की है। अतः

जागरुकता का विकास किया जाना चाहिए। तुम जितना सजग रहते हो परम चेतना के उतने ही नजदीक होते हो।

इच्छाशक्ति के प्रभाव से और भी शक्तियाँ उसे प्राप्त हो जाती हैं –

भूतसंधान–भूतपथक्त्व–विश्वसंघट्टाः ।। 20।।

इच्छाशक्ति की उपलब्धियों के गौरव से यह योगी अपनी सजगता को किसी रोगी पर केन्द्रित कर उसे रोगमुक्त कर सकता है। स्वयं के शरीर के तत्वों को पृथक कर समय एवम् अंतरिक्ष की सीमाओं का उल्लंघन कर सकता है। किसी की उदासी या तकलीफ दूर कर सकता है। **(भूत संधान)**

यदि प्रारब्धवश यह तय है कि योगी को तीन वर्ष तक बिस्तर पर कष्ट उठाना है तो वह अस्थायी तौर पर अपना कष्ट स्वयं के शरीर से अलग कर कहीं रख सकता है तथा स्वस्थ शरीर से दिनचर्या कर सकता है। उसका शरीर कष्टप्रद है लेकिन चेतना नहीं। जब वह पुनः बिस्तर पर आकर अपने कष्टों का पिटारा खोलता है तो वे कष्ट पुनः उसके शरीर में प्रवेश कर लेते हैं। भूत पृथकत्व की यह दूसरी शक्तिउसके पास होती है।

इस योगी को एक तीसरी शक्ति भी प्राप्त होती है जिसके द्वारा वह समय एवम् स्थान की सीमाओं को पार कर लेता है। वह भूतकाल में जाकर देख सकता है कि क्या हुआ था तथा भविष्य काल में भी जाकर देख सकता है कि क्या होने वाला है? इस शक्तिको ही विश्वसंघट्टाः कहते हैं।

(संस्कृत शब्द 'भूत' का तात्पर्य है कि "जो कुछ अस्तित्व में है" That which exists)

अतः शरीर भूत है, श्वास भूत है, वस्तुएँ भूत हैं। मात्र किसी वस्तु पर इच्छाशक्ति केन्द्रित कर यह योगी इच्छित परिणाम प्राप्त कर लेता है।

वह किसी व्यक्ति पर ध्यान केन्द्रित कर उसे स्वस्थ अथवा भयमुक्त कर सकता है। वह व्यक्ति जीवित हो, स्वर्ग में हो अथवा नर्क में – सभी जगह योगी अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा भयमुक्त या नीरोग कर सकता है। अपने स्वयं के कष्टों को स्वयं से अलग कर सकता है। समय एवम् स्थान में बहुत दूर के संसार में प्रवेश कर सकता है। किसी दूरस्थ शहर में प्रवेश कर वहाँ का इतिहास स्वयं देख सकता है। यही नहीं उस शहर का वर्तमान एवम् भविष्य भी देख सकता है। तंत्रों में यह व्याख्या साधना (Practice) के अंतर्गत है, सिद्धियों (attainments) के अंतर्गत नही।

स्पन्दकारिका में यह स्पष्ट उल्लेख है – "स्पन्द को पकड़ कर एक अति दुर्बल व्यक्ति भी जो चाहे वह कार्य कर सकता है। यदि वह भूखा है तो इच्छाशक्ति के संघनन द्वारा (By focusing the force of energy of will) भूख को शान्त कर सकता है।" **(स्पन्दकारिका 3:6)**

साथ ही जागरुकता की अनुपस्थिति शरीर को आध्यात्मिकता की सम्पदा से रिक्त कर देती है। जागरुकता की अनुपस्थिति हमारी लापरवाही का नतीजा होती ह। यदि तुम स्पन्द (इच्छाशक्ति) के साथ होकर इस प्रमाद को समाप्त कर देते हो तो जागरुकता की अनुपस्थिति की संभावना कहाँ रहती है?

(स्पन्दकारिका 3:8)

यही नहीं, सामान्य व्यक्ति द्वारा देखने पर अक्सर कोई वस्तु ठीक से दिखाई नहीं देती लेकिन गौर से देखने पर वह वस्तु पहचान ली जाती है। इसी तरह से कहीं भो कोई वस्तु किसी भी काल–भूत, भविष्य या वर्तमान में थी, है या होगी। मात्र उस पर इच्छाशक्ति द्वारा लक्ष्य करने पर क्षण भर में जान ली जाती है। **(स्पन्दकारिका 3:5)**

इस सूत्र में योग की सीमित शक्तियों का वर्णन है। आगे 21वें सूत्र में असीमित यौगिक शक्तियों का वर्णन है। जब योगी सीमित यौगिक शक्तियों को नहीं चाहता है तथा विश्वाहंता की ही चाह रखता है तब इस योगी के लिए –

शुद्धविद्योदयाच्चक्रशत्व सिद्धिः ।।21।।

अर्थात् शुद्ध ज्ञान के उदय से वह शक्तिचक्र को जीत लेता है। इस योगी के लिए शुद्धविद्या (शुद्धविद्यातत्व नहीं वरन् सर्वाहन्ता का) अहमेव सर्वम् का ज्ञान उदित होता है। जैसे भगवान कृष्ण ने अपना विश्वरूप दिखाया था यह सर्वोच्च यौगिक शक्तिहै। वे चक्रेश्वर थे अतः उन्हें समस्त शक्तियाँ प्राप्त थीं। उनकी शक्तियाँ सीमित नहीं थीं।

कुछ योगी, व्यापार में सफलता या स्वास्थ्य को ठीक करन जैसी सीमित यौगिक क्षमता को प्रदर्शित करते हैं। अगर योगी वर्षा की कामना करे और वर्षा हो जाए, वह भूकम्प की कामना करे और भूकम्प आ जाए, वह सबकी खुशियों की कामना करे..... इत्यादि में सब असीमित शक्तियाँ हैं। जहाँ व्यक्तिगत कामनाएँ नहीं हैं वहाँ असीमित शक्तिकाम करती है। यही शक्ति–चक्र का स्वामी बन जाता है।

जब यह योगी अपनी इच्छाशक्ति को सर्वाहन्ता के लिए एकाग्र करता है तो शुद्धविद्या का उदय होता है और उसे अहसास होता है कि यह समस्त सृष्टि मैं हूँ। मैं अपने शरीर तक सीमित नहीं हूँ। तब इस योगी को परमशिव का गौरव प्राप्त होता है और वह शक्ति–चक्र का स्वामी बन जाता है।

स्वच्छन्द तंत्र में इसका संदर्भ मिलता है – ''इस योगी को जो ज्ञान होता है वह अद्वितीय, सर्वोच्च ज्ञान है साथ ही साथ उसे समस्त ज्ञान एवम् क्रिया की कीर्ति भी प्राप्त होती है।'' **(स्वच्छन्द तंत्र)**

योगी का यह सर्वोच्च ज्ञान कहा जाता है। लेकिन यह ज्ञान क्या है? स्वच्छन्द तंत्र के अगले छन्द में इसका और भी खुलासा किया गया है –

''जब परमशिव के सनातन पहलू ''स्वातंत्र्य शक्ति'' को जान लिया जाता है तथा सर्वप्रमातृता उसी ज्ञान में होती है तब सर्वोच्च चेतना की अनुपस्थिति दूर ही रहती है। इसी कारण इस ज्ञान को शुद्ध ज्ञान अथवा शुद्ध विद्या कहते हैं। **(स्वच्छन्द तंत्र 6:396)**

तुम्हें उस उच्च ज्ञान में स्थापित रहना चाहिए तथा अपने स्वरूप में अस्तित्व का सर्वोच्च प्रकाश प्रकट करना चाहिए तब तुम परशिव से एक हो जाते हों। **(स्वच्छन्द तंत्र 6:397)**

स्पन्दकारिका में संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है –

''जब वह पूरी सृष्टि में व्याप्त हो जाता है तब उसे क्या कहा जा सकता है ? वह स्वयं ही स्वयं की स्थिति को समझता है। **(स्पन्दकारिका 3:11)**

द्सरी ओर वे योगी भी होते हैं जो इन विश्व शक्तियों को उपयोग नहीं करना चाहते हैं। जैसे दशरथ पुत्र श्रीराम । वे इन शक्तियों से ऊपर हैं लेकिन स्वयं के अस्त्र–शस्त्र एवम् शारीरिक शक्तिको ही उपयोग में लेते रहे। इनका मन स्वयं के स्वरूप पर केन्द्रित होता है।

अगले सूत्र में व्याख्या है कि जब वह स्वयं के स्वरूप में रहता ह तब इस योगी का क्या होता है? परशिव चेतना में रहते हुए वह सृष्टि में कोई बाधा या उत्पात तो उत्पन्न नहीं करता ।

महाह्रदानुसंधानान्मंत्रवीर्यानुभवः ।। 22।।

जब यह योगी पूर्ण जागरुकता से एकाग्र होकर चेतना के महासमुद्र पर ध्यान केन्द्रित करता है, तब मन्त्रवीर्य (Power of Supreme I) को प्राप्त कर लेता है। यही सत्य है कि भीतरी इच्छाशक्ति से लेकर बाहरी क्रियाशक्ति तक यह सारी सृष्टि चेतना की सर्वोच्च ऊर्जा से निर्मित है।

चूंकि सर्वोच्च चेतना म कई तरंगें उठती हैं जैसे ध्वनि की तरंग, स्पर्श की तरंग, गंध की तरंग इत्यादि। इसीलिए सर्वोच्च चेतना की तुलना महासमुद्र से की जाती है। ये सारी तरंगें सर्वोच्च चेतना से उत्पन्न हो रही हैं। वह चेतना जो पूरी तरह शुद्ध एवम् पारदर्शी है। कोई शक्तिसर्वोच्च चेतना के प्रवाह को रोक नहीं सकती, जिसकी गहराई असीम है।

जब योगी उस सर्वोच्च चेतना पर अन्तर्मुखी होकर ध्यान करता है अर्थात् समस्त इन्द्रियों के बहाव को भीतर की ओर मोड़ देता है उसे मन्त्रवीर्य की स्थिति प्राप्त हो जाती है क्योंकि मन्त्रवीर्य की स्थिति मातृका (अ से क्ष तक) की शक्तिहै। ऐसा क्यों? क्योंकि सारी ध्वनियाँ शब्दों से उत्पन्न होती हैं। ध्वनियाँ शब्दराशि कहलाती हैं जो शब्द समूह से प्रकट होती हैं। इन सब ध्वनियों का सार एवम् सब ध्वनियों की शक्तिएक ध्वनि है जो ध्वनिविहीन ध्वनि है। यह सारभूत ध्वनि ''अहम्'' सर्वोच्च अहम् की ध्वनि है और यही मन्त्रवीर्य है।

योगी को यह मन्त्रवीर्य प्रमेय की तरह प्राप्त नहीं होता वरन् प्रमातृता की तरह प्राप्त होता है।

यह मन्त्रवीर्य है – यह प्रमेय की तरह पाना है।

मैं मन्त्रवीर्य हूँ – यह प्रमातृता की तरह पाना है।

मालिनी विजयतंत्र में यह कहा गया है – ''सर्वोच्च स्वातंत्र्य शक्तिशिव से एक है।''

(मालिनी विजयतंत्र 3:5)

मालिनी विजयतंत्र में इसी बिन्दु से शुरूआत है – ''सर्वोच्च स्वातंत्र्य शक्तिशिव से अभिन्न है। ''सर्वोच्च स्वातंत्र्य शक्तिसे इच्छा, ज्ञान एवम् क्रियाशक्ति का उदय होता है। ये समस्त शक्तियाँ अब बाहर की ओर प्रसारित होती हैं जिनका केन्द्र स्वातंत्र्य शक्तिहै। अतः शिव की स्वातंत्र्य शक्तिने ही सृष्टि की समस्त ऊर्जाओं का निर्माण किया है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया ही नहीं वरन् संसार की समस्त शक्तियाँ स्वातंत्र्य से ही उत्पन्न हुई हैं।''

इस तरह सर्वोच्च प्रमातृता का उदय योगी द्वारा हर कहीं स्थिर होता है। मैं – तू – वह – यह – वे सभी में सर्वोच्च ''मैं'' (व्यक्तिगत ''मै'' नहीं) स्थापित हो जाता है। प्रथम पुरूष – मैं, द्वितीय पुरूष – तुम, तृतीय पुरूष – वह व्यक्तिगत प्रमातृताएँ हैं। ये जब विलीन हो जाते हैं तब मंत्रवीर्य का अनुभव होता है। मैं में मैं हूँ, तुम में मैं हूँ, उस में मैं हूँ, सब में मैं हूँ । अतः परशिव की स्वातंत्र्य शक्तिचेतना के महासमुद्र की तरह है। जब योगी स्वातंत्र्य शक्तिपर ध्यान केन्द्रित करता है तब वह मातृका एवम् मालिनी संसार में मन्त्रवीर्य को प्राप्त कर उसका अनुभव प्राप्त करता है।

मातृकाचक्र सर्वोच्च चेतना की क्रमबद्ध रचनात्मकता है।

मालिनी सर्वोच्च चेतना की क्रमबद्ध विनाशकता है।

इस रचनात्मकता को ''अहम्'' भी कहते हैं।

इस विनाशकता को ''महा'' भी कहते हैं।

योगी की सर्वोच्च चेतना का दोनों तरह से अनुभव होता है (रचनात्मकता की तरह एवम् विनाशकता की तरह भी)। यही बात **स्पन्दकारिका** में इस तरह कही गयी है – ''सर्वोच्च प्रमातृ चेतना के एक मन्त्र से सारे मन्त्र जीवन्त होते हैं तथा उसी चेतना में रहते हैं।'' **(स्पन्दकारिका 2:1)**

इस तरह शिवसूत्र के प्रथम जागरण में (शांभवोपाय में) प्रथम सूत्र है – ''चैतन्यम् आत्मा'' अर्थात् सर्वोच्च चेतना ही आत्मा है। इस प्रकार यह स्वीकारा गया है कि आत्मा ही वास्तव में चैतन्य है। चेतना ही आत्मा है, शरीर अथवा मन नहीं। आत्मा क्या है? चेतना ही आत्मा है और जब चेतना की अवस्था अनुपस्थित होती है या कम हो जाती है अथवा कमजोर पड़ जातो है तब यह जान लीजिये कि ''मलों'' का

उदय शुरू हो गया है। ये मल तोन प्रकार के होते हैं जिनकी व्याख्या दूसरे और उसके आगे के सूत्रों में की गई है (''ज्ञानं बंधः'' – ''योनिवर्गः कला शरीरम्'') मल ही बन्धन है जिनसे मुक्ति **''**उद्यमो भैरवः**''** से संभव है। भैरव उच्च प्रयास की सर्वोच्च स्थिति है और तब समस्त सृष्टि दिव्यता से भर जाती है। सारी यौगिक शक्तियाँ (सीमित या असीमित यौगिक शक्तियाँ) उसके द्वारा प्रदान की जाती हैं।

इस तरह ''शांभवोपाय'' का वर्णन समाप्त हुआ। कई जगह ''शाक्तोपाय'' का संकेत दिया गया है। शाक्तोपाय का वर्णन शाक्तोपाय तथा शांभवोपाय में तुलना के निमित्त दिया गया है ताकि साधक ''शांभवोपाय'' की ओर प्रेरित हो।

।। शाक्तोपाय ।।

चित्त मंत्रः ।।1।।

इस मत्र को दो प्रकार से समझा जा सकता है तथा दोनों ही प्रकार से मंत्र की दिव्यता बनी रहती है।

(1) मत्र का विचार (चिन्तन) ही मन है।

(2) मलविहीन साधक का विचार ही मन है।

''चित्त'' अर्थात् पवित्र शब्द का विचार (चिन्तन) मलविहीन साधक का विचार ही मत्र की अभिव्यक्ति (exposition) है ।

पवित्र साधक के मन में उत्पन्न शब्द, शब्द समूह या वाक्य ही ''मन्त्र'' (पवित्र शब्द) है। यहाँ मन साधारण अर्थों वाला मन नहीं। मन से तात्पर्य वह जो साधक को सर्वोच्च चेतना का विमर्श प्रदान करे। मन वह है जिससे संविद अपनी पूर्णता से अभिव्यक्त होता है।

विमश अर्थात् सर्वाहन्ता का विचार दो तरह से अभिव्यक्त होता है – (1) प्रासाद मत्र (2) प्रणव मन्त्र। प्रासाद मत्र बाहर की ओर विकास को प्राप्त होता है। प्रणव मत्र दोनों दिशाओं में विकसित होता है अर्थात् बाहरी संसार से आंतरिक संसार की तरफ तथा आंतरिक संसार से बाहरी संसार की तरफ विकसित होता है। प्रणव से दोनों मंत्रों का उदय होता है – 'अहम्' तथा 'महा' । 'अहम्' बाहरी संसार का मंत्र है एवम् 'महा' भीतरी संसार का मंत्र है।

जब अहम् का विकास होता है तो यह सर्वोच्च शिव चेतना (Supreme God Conciousness) से बाहर आकर विश्वचेतना से समरस होता है। इससे विपरीत दिशा में विमर्श के प्रवाह को 'महा' मंत्र कहते हैं। ये दोनों प्रणव मंत्र की स्थितियाँ हैं।

'प्रासाद' मंत्र पवित्र शब्द सौः की स्थिति है। यह केवल बाह्य होता है। यह भीतर प्रकट होकर बाहर विकसित होता है। बाहर जाते हुए यह उच्चता को प्राप्त होता है।

प्रणव मंत्र में बाह्य विकास भी उच्चता को प्राप्त होता है तथा भीतरी विकास भी उच्चता को प्राप्त होता है। इस तरह लगातार दोनों ओर विकसित होते हुए सर्वोच्चता को प्राप्त होता है।

दोनों दिशाओं में यह चित्त की दशा ह। यह गुप्त है अतः मंत्र है। यह लिखा हुआ नहीं है, यह गुप्त संसार में जीता है। मंत्र का जप होठों से नहीं, चेतना से होता है। प्रासाद मंत्र सौः को जपते हुए विमर्श करते हो तो मंत्र को चेतना में स्थित पाते हो। जब मंत्र स्वचेतना से विकसित होकर विश्वचेतना से समरस होता है तब सर्वाहंता का विमर्श होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विश्व मेरा ही विकास है..... यह उच्चता को प्राप्त होती हुई स्थिति है।

मन्त्र शब्द बना है – मन् + त्र से। यहाँ मन (मनन से लिया गया है) – मुझे शिव चेतना में स्थित कर देता है।

त्र – (त्राण से लिया गया है) – मुझे शिव चेतना से बाहर आ जाने के पाप से बचाता है।

इस प्रकार योगी का मन जो सदैव सर्वोच्च चेतना पर केन्द्रित रहता है – यही मंत्र है। उसके समस्त विचार भी मत्र हैं।

अतः मंत्र का मतलब – पवित्र शब्दों का समूह जैसे ''ऊँ नमः शिवाय'' मंत्र नहीं है। योगी का मन तथा पवित्र शब्द संयुक्त रूप से जब 'प्रासाद' या 'प्रणव' मंत्र के रूप में अनुभूत होते हैं तब मंत्र होते हैं। यही मंत्र है।

योगी के मन की दिव्यता ही मंत्र है। चेतना का प्रवाह बाहर तथा भीतर की ओर मंत्र है। चेतना के बिना शब्द समूह या पवित्र शब्द जल विहीन बादल की तरह निरर्थक होते हैं।

मंत्र के जपने मात्र से सत्य का अनुभव नहीं होता। योगी को स्वचेतना का विश्वचेतना से एकीकरण का निरन्तर प्रयास सावधानी से करना चाहिए। चेतना का प्रवाह एक धीमा प्रवाह नहीं अपितु एक जोरदार धक्के से होता है। उदाहरणार्थ – पूरी ताकत से एक गेंद दीवार पर मारने से वह पुनः आपके पास लौट आती है, ठीक उसी तरह प्रमातृ चेतना तथा विश्व चेतना (Objective God consciousness) भी लौट आती है। यही प्रणव मंत्र है। **(क्रममुद्रा)'**

यदि धीमे प्रवाह से प्रमातृ चेतना बाहर निःसृत होती है तो वापस नहीं लौटती, यह ''प्रासाद मंत्र'' है।

''प्रासाद'' सर्वोच्च स्थिति होती है। प्रासाद में स्थित योगी आनन्द से भर जाता है।

प्रयत्नः साधकः ।। 2।।

इस योगी का शिव चेतना में समावेश सतत् प्रयत्न द्वारा ही होता है। इसलिए यह प्रयत्न निरन्तर ही होना चाहिए।

मंत्र एवम् उसका प्रयोग किसी भी हलचल के प्रारम्भिक क्षण में होता है और इसी से साधक का शिव समावेश – योग सम्पन्न होता है।

किसी भी गतिविधि/हलचल को लें। उस हलचल के प्रथम बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करें। इस स्थिति को अनुसंधित्सा कहते हैं। किसी भी हलचल के प्रथम क्षण को ध्यान में स्थिर रखने से शिवचेतन से योग हो जाता है।

सर्वोच्च चेतना प्रकाश बिन्दु को तरह प्रकट होती है। जैसे निशाना साधकर तीर चलाने से एक बारगी ही क्षण भर में लक्ष्य भेद हो जाता है, ऐसे ही एकाग्रता से गतिविधि के आरंभिक क्षण पर ध्यान स्थिर करने से शिव चेतना में समावेश एक बार के प्रयास मात्र से ही हो जाता है। यह प्रयास पूर्णतः सहज, नैसर्गिक होना चाहिए। यह प्रयास हृदय के केन्द्र से तीव्रतम इच्छा एवम् तड़प से आरम्भ होकर निश्चयात्मक प्रतिबद्धता से योगी अपने लक्ष्य ''शिव चेतना'' को प्राप्त हो जाता है।

स्पन्दकारिका के अनुसार – 'यह सघन प्रयास ही सर्वोच्च चेतना/शिव चेतना (God Consciousness) है।

विद्याशरीरसत्ता मन्त्र रहस्यम् ।। 3।।

मंत्र का सार सर्वाहन्ता में प्रवेश कर स्थिर हो जाना है। सर्वाहन्ता का विमर्श ही सर्वोच्च ज्ञान है। सर्वोच्च चेतना से मातृका का विकास होता है। जहाँ परावाणी रूप से समस्त शब्दराशि एवम् वाणी का संग्रह होता है तदन्तर पश्यन्ति, मध्यमा एवम् वैखरी के रूप में विस्तार पाकर अनन्त भिन्नता को प्राप्त होती है, यही मंत्र रहस्य है। इसलिए ''ऊँ नमः शिवाय'' इत्यादि मंत्र नहीं है। सर्वाहन्ता ही मंत्र है।

शब्दरार्शि मंत्र (पवित्र शब्द समूह) में समाविष्ट होती है। तथा मन्त्र शक्तिमें समाविष्ट होते हैं। शक्तिसदा शिव से अभिन्न है। इस तरह शिवसमावेश सम्पन्न होता है। वर्णमाला के समस्त अक्षर मंत्र हैं एवम् सभी मंत्र शक्तिहैं साथ ही शक्ति–ार्शव में अभेद है।

माता पावती को सम्बोधित करते हुए परमेश्वर शिव कहते हैं – ''हे पार्वती ! जो लोग शास्त्रोक्त आचरण नहीं करते हैं और गुरु तथा शिव में भेद करते हैं, वे प्राणी मूर्ख हैं। वे मात्र संसारी भोग में लिप्त हैं तथा आत्मा के कल्याणार्थ कोई कार्य नहीं करते। ऐसे लोगों के मंत्र से मैं मंत्र का प्रकाश छीन लेता हूँ। उन लोगों के मंत्र मात्र शब्द–समूह रह जाते हैं एवम् निरर्थक हो जाते हैं। तुम्हें यह बोध अवश्य होना

चाहिए कि गुरु एवम् शिव में भेद नहीं है। तुम्हें साधक का आचरण तथा व्यवहार जागरुकता से बनाये रखना चाहिए। सांसारिक लिप्तता से विमुख होना चाहिए। ऐसा होने पर मैं मंत्रों को प्रकाशवान, प्राणवान बना देता हूँ जो सफल हो जाते हैं। **(तंत्रसद्भाव)**

वह अलौकिक मातृशक्ति जो दिव्य प्रकाश से परिपूर्ण है, सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। हे देवी ! जैसे सारे अक्षर 'अ' में समाये हुए हैं वैसे ही यह सारा ब्रह्माण्ड दिव्य माँ में समाया हुआ है। माँ सर्वोच्च है, अतिसूक्ष्म है। किसी एक धर्म–दर्शन या विचारधारा में सीमित नहीं है। यह दिव्य मातृशक्ति **''**कुण्डलिनी**''** नाम से जानी जाती है जो चेतना के केन्द्र में स्थित रहती है। कुण्डलिनी शक्तिमूलाधार चक्र पर सोये हुए सर्प की तरह विद्यमान रहती है, जहाँ वह मात्र स्वयं को जानती है। यद्यपि कुण्डलिनी में रवि, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि तथा सारे चौदह भुवन समाये होते हैं तथापि सुषुप्तावस्था में कुण्डलिनी स्वयं इस सबसे अनभिज्ञ रहती है।

कुण्डलिनी को जाग्रत कैसे किया जाये ?

कुण्डलिनी को बलपूर्वक कभी नहीं जगाया जा सकता। कुण्डलिनी को मात्र 'नाद' (Supreme I consciousness filled with supreme awareness) द्वारा ही जगाया जा सकता है। योगी को उसकी एकाग्रता के केन्द्र का मंथन करना होता है..... बिना रुके, सतत और बार–बार ।

मंथन करने के लिए एकाग्रता के स्फुल्लिंग का प्रवेश कण्डलिनी में करवाया जाता है लगातार एवम् बार–बार। एक स्फुल्लिंग के धीमा पड़ते ही दूसरा स्फुल्लिंग प्रविष्ट करवाया जाता है।

इस एकाग्रता से कुण्डलिनी में स्थित शक्तिका मंथन होता है तथा योगी को सभी दिशाओं से आने वाले तीव्र प्रकाश का अनुभव होता है। इस तरह जब 'नाद' से कुण्डलिनी का जागरण होता है तब योगी को कुण्डलिनी में बिन्दु के दर्शन होते हैं। बिन्दु ही सर्वोत्तम वीर्य है। बिन्दु से चार ज्योतिपुंज निकलते दिखाई देते हैं।

1. प्रमातृ चेतना (Subjective awareness)
2. प्रमाण चेतना (Cognitive awareness)
3. प्रमेय चेतना (Objective awareness)
4. प्रमिति भाव (Digestive awareness)

प्रथम तीन पुंज कुण्डलिनी के केन्द्र से निकलते हैं। चौथा पुंज अपने प्रथम तीनों पुंजों को समाये रखता है।

हे देवी ! अब जो भी मथन करना है तथा जिससे मंथन करना है योगीं कुण्डलिनी में समाए रखता है। ऐसा करने से दिव्य मातृशक्ति एक सीधी रेखा में उठ जाती है जिसे **ज्येष्ठा शक्ति**कहते हैं। इसका एक सिरा प्रमातृ भाव में तथा दूसरा प्रमेय भाव में रहता है। जब इन दो सिरों का सतत् मंथन किया जाता

है तब कुण्डलिनी से सर्वोच्च वीर्य का प्रवाह आधार से ऊपरी छोर तक होता है। इसे मातृशक्ति **रेखिनी** कहते हैं। अब प्रमातृ भाव तथा प्रमेय भाव एक हा जाते हैं। उनमें कोई भेद नहीं होता तथा अपूर्व आनन्द की सृष्टि होती है।

इस समय आनन्द को न सह पाने के कारण योगी अपने ध्यान से बाहर आ जाता है। यही आनन्द अमृत–सर्जन है। यहाँ मातृशक्ति को त्रिपथा कहते हैं, क्योंकि तीन बिन्दुओं का निर्माण होता है। प्रमातृ, प्रमेय एवम् प्रमाण पुनः जाग उठते हैं। यहाँ मातृशक्ति को **रौद्री शक्ति**कहते हैं। यही शक्तिअन्तिम मुक्ति की राह को रोकती है।

योगी को पुनः पुनः भीतर लौटना चाहिए। वह ऐसा विचार न करे कि उसने कुछ खो दिया है। न ही उस गुरु के निर्देश की प्रतीक्षा करनी चाहिए। उसे प्राप्त हुई एकता का भाव बना कर पुनः भीतर लौटना चाहिए।

तब मातृशक्ति **'अम्बिका'** अर्धचन्द्र का स्वरूप होती है जो आधी भीतर एवं आधी बाहर होती है। यह वास्तविक क्रममुद्रा की स्थिति है।

ज्येष्ठा शक्ति – सामान्य योगी के लिए

रौद्री शक्ति – आनन्द की इच्छा वाले योगी के लिए

अम्बा शक्ति – सर्वोच्च योगी के लिए

कुण्डलिनी की मातृशक्ति से अक्षरों के नौ समूहों का उदय होता है –

1. अ वर्ग (अ से विसर्ग तक)
2. क वर्ग
3. च वर्ग
4. ट वर्ग
5. त वर्ग
6. प वर्ग
7. य वर्ग
8. श वर्ग
9. क्ष वर्ग

कुण्डलिनी शक्तिसे 5 पवित्र प्रमातृ भाव का उदय होता है। ये ही शिव के पाँच मुख हैं –

1. ईशान
2. तत्पुरुष
3. अघोर

4. वामदेव

5 सद्योजात

सतयुग के आरम्भ में भगवान शिव स्वच्छन्दनाथ के रूप में प्रकट हए उनके पाँच शिर एवम् अठारह भुजाएँ थीं। उनकी पाँच मुख्य शक्तियों से पाँच शिर प्रकट हुए जिनका विवरण इस प्रकार है –

1. चित्शक्ति (All consciousness) से ईशान
2. आनन्द शक्ति(All bliss) से तत्पुरुष
3. इच्छाशक्ति (All will) से अघोर
4. ज्ञान शक्ति(All knowledge) से वामदेव तथा
5. क्रियाशक्ति (All action) से सद्योजात प्रकट हुए

बारह स्वर एवम् पचास अक्षर भी माँ कुण्डलिनी से ही प्रकट हुए।

तीन वाणियाँ (वाक्) –

1. पश्यन्ति (Supreme) हृदय में केन्द्रित
2. मध्यमा (Medium) कण्ठ में केन्द्रित
3. वैखरी (Inferior) जिव्हा में केन्द्रित रहती है।

जब कुछ कहा जाता है तो प्रथमतः यह बात हृदय से उठती है। यहाँ शब्द या अक्षर नहीं है, मात्र चेतना है। यहाँ अगले क्षण होने वाली घटना के लिए एक बल है इसे एकाणव कहते हैं (one pointed) (पश्यन्ति वाणी)। बोलने के लिए उद्यत गले में मध्यमा वाणी तथा जिह्वा पर (जब हम बोलते हैं) वैखरीवाणी होती है।

कुण्डलिनी के केन्द्र से जो निःशब्द है, शान्त है, वाणी का आविर्भाव होता है। सारा ब्रह्माण्ड ध्वनि पर टिका है। सर्वोच्च वाक् की सर्वोच्च शक्ति ही समस्त वाणी का स्रोत मातृशक्ति है। इसी सर्वोच्च चेतना से साधक के मंत्र को वीर्य अथवा आलोक प्राप्त होता है। इसीलिए कहते हैं कि मातृका एवम् मालिनी दोनों का उद्भव कुण्डलिनी से होता है। मातृका में अ से क्ष तक तथा मालिनी में अक्रम से सारे अक्षर होते हैं।

स्वात्म विमश में स्थित होने पर ही मंत्रवीर्य प्राप्त होता है। लेकिन शिव की तिरोधान क्रिया के कारण किसी को सर्वोच्च अहंता प्राप्त नहीं होती तथा वे सीमित यौगिक सिद्धियों से ही संतुष्ट हो जाते हैं।

अगले सूत्र में यह बताया गया है कि इन योगियों का क्या होता है ?

गर्भे चित्त विकासोऽविशिष्ट विद्या स्वप्नः ।। 4।।

मित मंत्र सिद्धियों में ही जिसका मन रम गया हो उस स्वप्नवत भ्रमात्मक अशद्ध विद्या में मोहित योगी साधारण भेदप्रथात्मक ज्ञान में पड़कर साधारण जीव के स्तर पर ही रहता है।

गर्भे – महामाया (परमशिव की भ्रमित करने वाली शक्ति) में पड़कर जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं वे माया के क्षेत्र में ही विकसित होती हैं। इस योगी के समक्ष जो अनुभव प्राप्त होते हैं उन्हें ''समाधौ'' उपसर्ग अर्थात् समाधि में व्यवधान कहते हैं।

स्पन्दकारिका में वर्णन है – ''जैसे ही स्पन्द पर ध्यान करते हैं तब दोनों नत्र और भौंह के बीच दिव्य प्रकाश तथा हृदय में दिव्य ध्वनि का अनुभव होता है। नेत्रों के सामने दिव्य स्वरूप तथा जिह्वा पर दिव्य स्वाद का भी अनुभव होता है। ऐसी स्थिति में भी जो समझदार योगी इन मित सिद्धियों से प्रभावित हुए बगैर स्वात्मविमर्श से नहीं भटकता उस योगी का क्या होता है? इसे अगले सूत्र में समझाया गया है :–

विद्यासमुत्थाने स्वाभाविके खेचरी शिवावस्था ।। 5।।

जब शुद्धविद्या योगी के स्वाभाविक विमर्श म आती है तब इन मित सिद्धियों का नाश हो जाता है तथा शिव चेतना से समरस योगी बोधाकाश में स्वेच्छा से उड़ान भरता है। इसे ही खेचरी मुद्रा कहते हैं। खेचरी, परमशिव की स्थिति है।

नोट – यौगिक क्रियाओं में एक खेचरी मुद्रा का वर्णन – शक्ति, व्यापिनी तथा समना को रिक्त में भरने पर खेचरी मुद्रा प्राप्ति का वर्णन है जो वास्तविक खेचरी नहीं है।

वास्तविक खेचरी मुद्रा – जब हम कुलमार्ग पर चल रहे हों तब पूर्णता के अंश में भी पूर्णता के दर्शन करना चाहिए। सर्वोच्च चेतना से एकाकार हाना ही खेचरी मुद्रा है। ऐसे योगी की दृष्टि में हर वस्तु पूर्णता से भरी है । जैसे किसी एक व्यक्ति को देखकर योगी जानता है कि इसी व्यक्ति में सारे व्यक्ति अवस्थित हैं या एक चावल के दाने में चावल का पौधा छिपा है जो क्रमशः अनगिनत दाने उत्पन्न कर सकता है। अतः एक चावल के दाने से अनगिनत पौधे उत्पन्न हो सकत हैं। इसी तरह संसार का हरेक हिस्सा ''पूर्ण'' है। कुलमार्ग पर चलते हुए हमें यह अहसास होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति में भिन्नता के ज्ञान के रूप में एक खालीपन भरा है या भिन्नता का ज्ञान एक खालीपन है।

सर्वोच्च चेतना से एकाकार होना ही खेचरी मुद्रा है। जब भिन्नता के ज्ञान की भ्रांति शून्य हो जाती है तब सभी मंत्रों एवम् मुद्राओं की शक्तिप्रकट होती है तथा योगी को इसका अनुभव होता है।

कुल चूड़ामणि शास्त्र में इसे इस तरह स्पष्ट किया गया है – जब रचनात्मकता के एक अंकुरण तथा अस्तित्व के एक अंकुरण से खेचरी मुद्रा बनती है (मंत्रवीर्य) एवम् स्थिर हो जाती है (मुद्रावीर्य) तथा दोनों स्थितियाँ योगी को प्रकट होती है तब वह आनन्द एवम् शान्ति से शिवावस्था में स्थिर हो जाता है।

स्पन्दकारिका के अनुसार रचनात्मक ऊर्जा के प्रथम क्षण में मंत्रवीर्य (Power of creative energy) का अस्तित्व है तथा रचनात्मक ऊर्जा में स्थापित हो जाने को ही मुद्रावीर्य (Power of establishment in creative energy) कहते हैं।

इन दोनों शक्तियों का पाने के उपाय को अगले सूत्र में वर्णित किया गया है –

गुरुरुपायः ।। 6।।

मंत्रवीर्य एवम् मुद्रावीर्य – इन दोनों शक्तियों को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय गुरु ही है और कोई नहीं।

मालिनी विजयतंत्र में उल्लेख है :– शिवोवाच – ''गुरु वह है जो शिष्य को शिव की रचनात्मक शक्तिके दर्शन कराता है तथा उसमें शिष्य को स्थापित कर देता है (मंत्रवीर्य तथा मुद्रावीर्य) । हे पार्वती ! वह गुरु मुझ जैसा ही है एवम् मुझसे अभिन्न है।''

स्पन्दकारिका में उल्लेखित है – ''वह गुरु शिष्य को दिव्य विचारों की राह दिखाता है तथा भिन्नता के ज्ञान, शंकाओं एवम् दुविधाओं के समुद्र से बाहर निकालता है। मैं उस गुरु को प्रणाम करता हूँ।''

मालिनी विजयतंत्र के आधार पर कुछ विद्वान कहते हैं कि यह गुरु संसार का व्यक्ति नहीं है वरन् परमशिव की पराशक्ति ही वह गुरु है।

मालिनी विजयतंत्र में यह भी कहा गया है – ''यह शक्तिचक्र है जो गुरु का मुख है। यहीं से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है।''

त्रिशिरोभैरवतंत्र में कहा गया है – ''परमशिव की परमशक्ति ही गुरु का मुख है। अतः ज्ञान का कारण होने से यही शक्ति'उपाय' है।''

मातृकाचक्र संबोधः ।। 7।।

गुप्त मातृका का ज्ञान शिष्य को गुरुकृपा से होता है। किसी और उपाय से मातृका का ज्ञान नहीं होता। मातृका चक्र क्या है? मातृका वह माता है जो संसार को अज्ञात है। जब हम प्रमेय संसार में उतरते हैं तब वहाँ रचनात्मक ऊर्जा (Creative energy) मातृका है जो प्रमेय के स्तर पर अज्ञात है। प्रमाता के क्षेत्र

म यह मातृका नहीं अपितु चित्शक्ति है (The energy of consciousness) वही ज्ञान और मंत्रों का कारण है।

मातृका चक्र (Wheel of hidden mother) :– मातृका चक्र का संबंध अ स क्ष तक के पचास अक्षरों से है। यही पचास अक्षर पूरे ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधित्व करते हैं। ब्रह्माण्ड छत्तीस तत्वों से बना है तथा छत्तीस तत्वों का प्रतिनिधित्व यही पचास अक्षर करते हैं।

ब्रह्माण्ड, शिवतत्व से शुरू होता है तथा पृथ्वीतत्व पर समाप्त होता है।

शिव के प्रतिनिधि अक्षर है, सोलह स्वर – अ से अः तक। यही सोलह स्वर छत्तीसवें तत्व अर्थात् शिवतत्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। छत्तीसवें तत्व में पाँच ऊर्जाएँ हैं :–

1. चित् शक्ति(Energy of consciousness)
2. आनन्द शक्ति(Energy of Bliss)
3. इच्छा शक्ति(Energy of Will)
4. ज्ञान शक्ति(Energy of Knowledge)
5. क्रिया शक्ति(Energy of Action)

वेदान्त के अनुसार शिवतत्व सत्, चित् और आनन्द से मिलकर बना है। यहाँ सत् का तात्पर्य अस्तित्व (all existence) से है, चित् अर्थात् always conscious तथा आनन्द अर्थात् always blissful है।

लेकिन 'शैव–दर्शन' में शिव को अलग तरह से समझा जाता है। यहाँ सत् कहना अनावश्यक है क्योंकि अस्तित्व तो है ही। सत् शिव का कोई गुण (aspect) नहीं है। सत् तो शिव का सत्य है।

परात्रिंशिका एवम् तन्त्रालोक के अन्तर्गत शिवतत्व को इस तरह समझाया गया है –

अहम् विमर्श (Supreme I consciousness) का प्रथम स्पन्दन–कला (Movement) अनुत्तरा (Unparalleled) कहलाता है। यही 'अकुल' (Undifferentiated totality) है और यह कला जब संसार में अपना प्रकाश प्रकट करना चाहती है तो इससे आनन्द का सृजन होता है।

कला अर्थात् First movement। शिव सदा स्पन्दन में रहता है। शिव स्थिर नहीं है, जड़ नहीं है। स्पन्दन, शिव में ही आरम्भ होता है। इसीलिए संसार में कुछ भी स्थिर नहीं है। स्थिर प्रतीत होती चट्टान में भी जीवन है। वह भी सदा चलायमान है।

अनुत्तरा अर्थात् अद्वितीय (Unparalleled)

अकुल अर्थात् (Undifferentiated totality)

शिव का प्रथम स्पन्दन अनुत्तरा कहलाया। प्रथम स्पन्दन के क्षण पर मात्र चेतना थी। तब शिव ने पुनः पुनः स्वात्म–विमर्श से आनन्द को स्वयं में खोजा। शिव जब भी चाहे अपनी आनन्दावस्था को देखते ह। जब हम देखते हैं कि हम क्या हैं तब आनन्द प्रकट होता है। जब हम बार–बार यह नहीं देखते हैं कि हम

क्या हैं तब हम चेतनता से भरे होते हैं। जब पुनः बार–बार आत्म–निरीक्षण करते हैं तब आत्मा का आनन्द उजागर होता है। यही आनन्दावस्था है।

शिव का प्रकाश तो उसके अस्तित्व में ही समाहित है। अगले ही क्षण जब वह बाह्य संसार में अपना प्रकाश प्रकट करना चाहता है तब आनन्दावस्था प्रकट होती है। यही आनन्द का स्वरूप है।

अनुत्तरा चेतना की अद्वितीयावस्था का संस्कृत के प्रथम अक्षर 'अ' से प्रतिनिधित्व होता है।

इसके बाद दो स्पन्द होते हैं – इच्छा तथा ईशना। इच्छा अर्थात् (The subtle state of will)। वह स्वयं के स्वभाव की इच्छा करता है अतः इच्छा की ऊर्जा से उसका 'स्वभाव' समृद्ध होता है। वह स्वयं का विमर्श करता है ''हाँ मेरी यह स्थिति है''। यह स्थिति 'इ' से प्रकट होती है।

इसके बाद इच्छा प्रखर रूप से प्रकट होती है तब वह न केवल स्वयं की स्थिति को महसूस करता है अपितु वह उस स्थिति को पाना भी चाहता है। इसी इच्छा से उसका अधोपतन होता है क्योंकि इच्छा करते ही उसे महसूस होता है कि मेरी प्रकृति (स्वभाव) में जो है वह मेरे पास नहीं है। इस तरह वह स्वभाव से दूर होने लगता है। यही ईशना की स्थिति है जो मातृका में 'ई' से प्रकट होती है अर्थात् इस स्थिति का प्रतिनिधित्व 'ई' से होता है।

इसके पश्चात् अगला स्पन्दन 'ज्ञान' का होता है। ज्ञान की प्रथम हलचल उन्मेष की स्थिति में होती है जिसका प्रतिनिधित्व 'उ' से होता है। यहाँ उसे यह ज्ञान होता है कि ब्रह्माण्ड या सब कुछ उसके स्वभाव में स्थित है जो चेतना और आनन्द से भरा है।

इसके बाद अगली हलचल बाह्य जगत में होती है जब वह देखता है कि 'मेरे स्व में क्या–क्या स्थित है'। जैसे ही वह स्वयं में स्थित विभिन्नता को देखने की इच्छा करता है, चतना का आलोक और आनन्द मद्धम प्रतीत होने लगते हैं। आलोक और आनन्द के दूर होने के अहसास से उसे बेचैनी होने लगती है। वास्तव में चेतना का आलोक एवम् आनन्द कम नहीं होता वरन् कम होता प्रतीत होता है क्योंकि इच्छा ने आलोक की प्रतीति कम कर दी। यह स्थिति 'ऊनता' कहलाती है और इस स्थिति का प्रतिनिधित्व –ऊ' से होता है। ऊनता अर्थात् कम होता हुआ (Lessening)। यह स्थिति सर्वोच्च चेतन तथा आनन्द के कम होने की बेचैनी की है।

जब उसे भय होता है कि कहीं यह सर्वोच्च चेतना एवम् आनन्द कम न हो जाए तब वह अपनी इच्छाशक्ति को पुनः भीतर की ओर मोड देता है और उसे जगत् में प्रसरित नहीं होने देता। यह क्रिया चार तरह से होती है अर्थात् चार क्रमिक स्तर हैं। प्रथम दो स्तर निर्णय लेने तथा बाद के दो स्तर उस निर्णय पर अमल करने के हैं।

1. पहले वह निर्णय करता है कि यह इच्छा जगत् से समट कर स्वयं के भीतर मोड़ना है।

2. ऐसा करने का निश्चय कर लेता है जैसे तड़ित बादलों में उदय होती है, यह प्रथम स्तर है। जब दिखाई देती है यह दूसरा स्तर है। इन दो स्तरों का प्रतिनिधित्व अक्षर 'ऋ' एवम् 'ॠ' से होता है।
3. इच्छा को वह भीतर मोड़ देता है।
4. इच्छा को वह भीतर स्थापित कर देता है। इन दो स्तरों का प्रतिनिधित्व 'ऌ' एवम् 'ॡ' अक्षरों से होता है।

यहाँ विश्व रचनात्मकता की सारी क्रिया भीतर स्व–भाव में समेट ली गई है और सारा जगत सर्वोच्च चेतना तथा आनन्द से एकमेक हो गया है।

ये चार स्तर शिव में समाये हुए हैं एवम् 'अमृतरूपेण' कहलाते हैं। इन चार अक्षरों को महान व्याकरणविद् पाणिनि ने अमृतबीज कहा है क्योंकि ये किसी के स्व–भाव में स्थित होकर आनन्द से परिपूर्ण है। यहाँ इनके बाहर आने का कोई संकेत नहीं है। अतः जगत के निर्माण की कोई उम्मीद यहाँ नहीं दिखती।

पाणिनि ने इन चार अक्षरों को शिव की नपुंसक अवस्था कहा है क्योंकि चेतना एवम् आनन्द के आलोक के खो जाने के डर से शिव में रचनात्मकता का साहस नहीं हो पा रहा है।

शिव सदा पूर्ण है। विश्व की संरचना न कर पाना शिव के लिए शर्म की बात है। अतः शिव पुनः नए सिरे से विश्व निर्माण का निर्णय लेता है। इस बार वह रचनात्मकता की शक्तिको इच्छाशक्ति से नहीं जोड़ता है वरन् रचनात्मक चेतना को स्वयं के अस्तित्व अनुत्तरा तथा आनन्द से जोड़ता है। यही नहीं वह इस शक्तिको अपनी इच्छा से जोड़ता है। ऐसा करने पर वह एक आंतरिक विश्व का निर्माण करता है जो शिव की क्रियात्मक ऊर्जा का विश्व होता है। इस क्रियात्मक ऊर्जा का प्रतिनिधित्व चार अक्षरों (स्वरों) ए, ऐ, ओ, औ से होता है।

1. अस्फुट (Not vivid) क्रियाशक्ति का प्रतिनिधि अक्षर है 'ए'
2. स्फुट (Vivid) क्रियाशक्ति का प्रतिनिधि अक्षर है 'ऐ'
3. स्फुटतर (MoreVivid) क्रियाशक्ति का प्रतिनिधि अक्षर है 'ओ'
4. स्फुटतम (Most Vivid) क्रियाशक्ति का प्रतिनिधि अक्षर है 'औ'

ये स्तर क्रमशः प्रकट होते हैं। प्रथम अस्फुट स्तर को त्रिकोण का स्तर कहते हैं। त्रिकोण का स्तर क्यों कहा जाता है? जैसा कि हम जानते हैं कि चेतन शक्तिएवम् आनन्द शक्तिकी गणना हम अलग से नहीं करते क्योंकि यह परमशिव का ही स्वरूप है। यद्यपि इच्छा, ज्ञान एवम् क्रिया की शक्तिया भी शिव से एक हैं तथापि बाद में आती हैं इसलिए अलग से व्यक्त की जाती हैं।

1. इच्छाशक्ति में मात्र इच्छाशक्ति का अस्तित्व होता है।
2. ज्ञानशक्ति में इच्छाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति दोनों का अस्तित्व होता है।

3. क्रियाशक्ति में तीनों शक्तियों (इच्छा, ज्ञान एवम् क्रिया) का अस्तित्व होता है।

अस्फुट क्रियाशक्ति में चूंकि तीन बिन्दु होते हैं (इच्छाशक्ति का, ज्ञानशक्ति का एवम् क्रियाशक्ति का) अतः इसे त्रिकोण कहते हैं।

इस प्रथम स्पन्द में परमशिव अपनी रचनात्मक शक्ति(अनुत्तरा/आनन्द) को इच्छाशक्ति में प्रविष्ट करते हैं। यहाँ चेतना (consciousness/अनुत्तरा) तथा आनन्द (Bliss) अर्थात् अक्षर 'अ' एवम् 'आ' इच्छा से अर्थात् अक्षर 'इ' से मिल जाते हैं। इस अस्फुट कार्यशक्ति (त्रिकोण) का प्रतिनिधि अक्षर है 'ए'। अब अनुत्तरा एवं आनन्द शक्ति त्रिकोण 'ए' से मिलती हैं तब स्फुट क्रिया शक्ति का उदय होता हैं । जिसका प्रतिनिधि अक्षर हैं 'ऐ' इस स्तर को षटकोण कहते हैं ।△+▽ =✡ अब वह उस शक्ति को ज्ञानशक्ति से मिलाता है। जब अनुत्तरा एवम् आनन्द (अ एवम् आ) ज्ञानशक्ति 'उ' से मिलते हैं तब कार्यशक्ति का नया स्तर उदित होता है जिसे 'ओ' (स्फुटतर कार्यशक्ति) कहते हैं। अब अनुत्तरा एवं आनन्द शक्ति स्फुटतर कार्यशक्ति 'ओ' से मिलती है तब कार्यशक्ति के स्फुटतम स्तर का उदय होता हैं । जिसका प्रतिनिधि अक्षर है ''औ'' । अ + आ + ओ = औ

इस शक्तिस्तर का उद्देश्य यह निश्चय करना है कि विश्व का निर्माण होगा ही बावजूद इसके कि इच्छाशक्ति के चार स्तर ऋ, ॠ, ऌ, ॡ नपुसंकता को प्राप्त हो गए हैं। यह परमशिव की महान शक्तिचेतना (अनुत्तरा) एवम् आनन्द है जो विश्व निर्माण के लिए प्रतिबद्ध है।

षट्कोण वह स्तर है जहाँ सारा ब्रह्माण्ड शिव में एवम् शिव ब्रह्माण्ड में रहता है। इस प्रकार षट्कोण को जगत भी कह सकते हैं तथा शिव भी कह सकते हैं। यदि परमशिव को देखना चाहते हो तो घास के तिनके में देखो वहाँ वह स्फुट रूप से उपस्थित है। अतः 'ए' में वह अस्फुट रूप से उपस्थित है लेकिन ''ऐ'' में स्फुट रूप से उपस्थित है, 'ओ' में स्फुटतर रूप से उपस्थित है तथा 'औ' में स्फुटतम रूप से उपस्थित है। यहाँ 'औ' की स्थिति क्रियाशक्ति की अंतिम स्थिति है जो विश्व में देखी जाती है। इस स्थिति को 'शूलबीज' कहते हैं जहाँ इच्छा–ज्ञान–क्रिया का समन्वय विश्व बिन्दु में हो जाता है। इसीलिए कार्यशक्ति के इस चतुर्थ स्तर पर शिव की तीनों शक्तियाँ (इच्छा, ज्ञान, क्रिया) स्फुटतम रूप से मिलती हैं।

इस प्रकार शिव को हम अनुभव के स्तर पर देखना चाहें, महसूस करना चाहें तो इस विश्व का आनन्द लें। समाधि में तो शिव के अस्फुट स्वरूप से साक्षात्कार होगा। वास्तविकता के स्तर पर तो वह विश्व में ही दिखाई देगा।

अब इसके बाद के दो स्वरों अनुस्वार (ं) तथा विसर्ग (ः) के बारें मे समझेंगे।

चित्शक्ति से स्फुटतम कार्यशक्ति तक कोई ब्रह्माण्ड ही नहीं है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो यह स्वभाव का विस्तार है और कुछ नहीं। वस्तुतः कुछ भी रचा नहीं गया। रचना में उसका आलोक मात्र है और कुछ नही।

इस ज्ञान के स्तर तथा इसके पुष्टिकरण को अनुस्वार (ं) से व्यक्त करते हैं। अनुस्वार (ं) मात्र बिन्दु है। बिन्दु का निर्माण नहीं होता अपितु बिन्दु का मात्र अस्तित्व होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इतनी विस्तृत क्रियाकलाप के बाद सारा संसार एक बिन्दु में सिमट गया। कोई पैदा हुआ, बड़ा हुआ, बूढ़ा हुआ, मर गया, फिर पैदा हुआ.....। यह सब मात्र उस अस्तित्व का आलोक है। न कुछ जन्मा और न कुछ मरा।

आखिर यह सब क्या है जो विस्तृत रचना की तरह दिखाई देता है? इसकी व्याख्या शिव की अगली (सोलहवीं) अवस्था विसर्ग (ः) से होती है। यह सोलहवाँ स्वर आंतरिक एवम् बाह्य रचना शक्तिका प्रतिनिधित्व करता है। इस स्तर पर एक दृष्टिकोण से देखने पर प्रतीत होता है कि कुछ भी निर्मित नहीं हुआ है। आंतरिक रचनाशक्ति (Internal creative force) को दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर सब कुछ निर्मित दिखाई देता है। यह बाह्य रचनाशक्ति (External creative force) है।

शैव शास्त्रों में विसर्ग का वर्गीकरण तीन प्रकार से होता है :–

1. विसर्ग का संबंध शिव से है – परा विसर्ग
2. विसर्ग का संबंध शक्तिसे है – परापरा विसर्ग
3. विसर्ग का संबंध जीव से है – अपरा विसर्ग

यहाँ – परा–विसर्ग अर्थात् सर्वोच्च रचनात्मक शक्ति(आ)

परापरा–विसर्ग अर्थात् मध्यम रचना शक्ति(ः)

अपरा–विसर्ग अर्थात् निम्न रचना शक्ति(ह)

प्रथम विसर्ग :– परा–विसर्ग (आ) अर्थात् चित्त प्रलयः = शाम्भव विसर्ग, विचारहीन चेतना ।

द्वितीय विसर्ग :– परापरा–विसर्ग (ः) अर्थात् चित्त संबोधः = आत्म विमर्श, भिन्नता ज्ञानशून्य ।

तृतीय विसर्ग :– अपरा–विसर्ग (ह) अर्थात् चित्त विश्रांतिः = निरुद्ध, बिना प्रयास के स्थिर चित्त ।

नोट :– एकाग्रता अर्थात् सप्रयास चित्तस्थैर्य एवम् निरुद्ध अर्थात् प्रयासहीन चित्तस्थैर्य। शिवावस्था में अन्तर्मुखता का विमर्श होता है। शिवावस्था में ही बहिर्मुखता का विमर्श होता है।

जब हम शिव की सारी अवस्थाओं का अनुभव भीतर करते हैं तब हम अनुस्वार (ं) की स्थिति का अनुभव करते हैं लेकिन जब इन स्थितियों का अनुभव बाहर भी करते हैं तब विसर्ग (ः) की स्थिति का अनुभव करते हैं।

अतः जब हम बाहरी दृष्टिकोण से अनुभव करते हैं तब भीतरी दृष्टिकोण का अनुभव भी साथ में रहता ही है। बाहरी दृष्टिकोण का अनुभव पूरे विश्व में फैल जाता है। विश्व की संरचना सबसे निचले तत्व पृथ्वी से आरम्भ होकर सर्वोच्च तत्व शक्तितक विस्तार पाती है। सर्वोच्च तत्व शिव नहीं कहा गया क्योंकि सभी तत्वों का स्रोत शिव है जो समस्त तत्वों में अन्तर्निहित है।

अब जब हम बाह्य निरीक्षण करते हैं कि शिव में क्या निर्मित हुआ है तब पाते हैं कि शिव में व्यंजनों के चार वर्ग निर्मित हुए हैं –

1. पाँच तत्वों का एक वर्ग

2. पाँच तन्मात्राओं का एक वर्ग

3. पाँच कार्यशक्तियों का एक वर्ग

4. पाँच ज्ञान शक्तियों का एक वर्ग

जैसा कि हम जानते हैं कि शिव की पाँच शक्तियाँ हैं :–

1. चित्शक्ति (Energy of consciousness) अनुत्तरा

2. आनन्द शक्ति(Energy of bliss)

3. इच्छा शक्ति(Energy of will)

4. ज्ञान शक्ति(Energy of knowledge)

5. क्रिया शक्ति(Energy of action)

चित्शक्ति से पंचतत्व (पाँच महाभूत) – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवम् आकाश का निर्माण हुआ। इस तरह सूक्ष्मतम शक्तिसे विशालतम पंचभूतों का उदय हुआ। शिव की किसी भी शक्तिमें शेष चारों शक्तियाँ भी होती हैं।

बाह्य एवम् भीतरी अनुभव चित्शक्ति अनुत्तरा से आरम्भ होते हैं।

अब हम जानेंगे कि बाहरी अनुभव कैसे विकसित होता है? बाह्य अनुभव चित्शक्ति एवम् आनन्द शक्ति(अ एवम् आ) से आरम्भ होता है। इन दोनों में पाँचों शक्तियाँ सम्मिलित हैं। चित्शक्ति एवम् आनन्द शक्तिसे ही पाँच व्यंजन निकलते हैं – क, ख ग, घ, ङ । ये पाँच व्यंजन ही पाँच महाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवम् आकाश) का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इसी प्रकार इच्छाशक्ति (इ, ई) से पाँच व्यंजनों का उदय होता है – च, छ, ज, झ, ञ । ये पाँच व्यंजन पंचतन्मात्राओं (गंध, रस, रूप, स्पर्श एवम् शब्द) का प्रतिनिधित्व करते हैं।

तदंतर अनाश्रित शिव (ऋ, ॠ) पाँचों शक्तियों से मिलकर पाँच व्यंजनों का निर्माण करता है – ट, ठ, ड, ढ, ण। ये पाँचों व्यंजन पाँच कर्मेन्द्रियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इसी प्रकार ऌ, ॡ से पाँच व्यंजनों – त, थ, द, ध, न का निर्माण होता है। ये पाँचों व्यंजन पाँच ज्ञानेन्द्रियों का प्रतिनिधित्व करते है।

तदंतर ज्ञानशक्ति (उ, ऊ) पाँच शक्तियों से मिलकर पाँच व्यंजनों – प, फ, ब, भ, म का निर्माण करती है, जो मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति, पुरूष का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इन पाँच शक्तियों में प्रत्येक में पाँचों शक्तियाँ होती हैं। इस प्रकार पाँच गुणा पाँच अर्थात् पच्चीस व्यंजनों का निर्माण हुआ।

अब चार अर्ध स्वरों – य, र, ल, व द्वारा शिव के सीमित कर देने वाले छः तत्वों का प्रतिनिधित्व होता है। ये छः तत्व हैं – कला, विद्या, राग, काल, नियति तथा माया (षट् कंचुक) । यहाँ एक विशेष बात यह हुई कि नियति तथा राग को मिलाकर एक एवम् काल तथा कला को मिलाकर एक मानने से ये षट् कंचुक मात्र चार शक्तियाँ बन गए।

व्याकरणविद् पाणिनि के अनुसार ये षट् कंचुक व्यक्ति के भीतर ही होते हैं, बाहर नहीं। अतः पाणिनि ने इन य, र, ल, व को अन्तस्थ कहा है लेकिन शवतंत्र में ये पाँच तत्व नियति, काल, राग, विद्या, तथा कला, माया के साथ धारणा कहलाते हैं क्योंकि ये जीव को जीवन प्रदान करते हैं। इनके बिना जीव का जीवन हो नहीं रहता है मात्र शिव सत्ता रह जाती है। इसीलिए इन्हें हम अन्तस्थ नहीं वरन् धारणा कहते हैं, क्योंकि :–

सीमित जीव का गौरव सीमाओं में ही है (Limitation is the glory of limited being) । जब तुम इन छः तत्वों को भेद देते हो और इनकी सीमाओं को तोड़ देते हो तो भिन्नता का ज्ञान लुप्त हो जाता है। अभिन्नता का ज्ञान होने लगता है तब तुम्हारी चेतना खिल उठती है। इस खिल उठने का प्रतिनिधित्व (उन्मेष का प्रतिनिधित्व) जिन चार अक्षरों से होता है, वे हैं – श, ष, स, ह। व्याकरणविद् पाणिनि के अनुसार ये चारों अक्षर (श, ष, स, ह) ऊष्मा अक्षर (ऊष्मा अर्थात् भीतरी प्रकाश अथवा भीतरी ऊर्जा) है। क्योंकि उन्मेष अवस्था में जब भीतरी प्रकाश प्रकट होता है तब शुद्ध विद्या की स्थिति बनती है।

ये चार अक्षर क्रमशः श = शुद्धविद्या, ष = ईश्वर, स = सदाशिव एवम् ह = शक्तिके रूप में जाने जाते हैं। यहाँ मातृका चक्र पूर्ण होता है।

मातृका के संसार में जब रचना पूर्ण होती है तो सर्वोच्चता को पाकर पूर्ण होती है, अधमता को पाकर नहीं। रचनात्मकता की सर्वोच्च स्थिति सदाशिव स्तर पर होती है जिसका प्रतिनिधित्व 'स' से होता है। अतः क्षेमराज कहते हैं कि रचना के अन्त में जो है वह वैसा ही है जैसा होना चाहिए और सर्वोच्च चेतना के अमृत से भरा है। यह सदाशिव की स्थिति है। यह 'अहम् – इदम्' की स्थिति है, यह सारा संसार मैं हूँ।

''त्रिक्–दशन'' में अक्षर 'स' को **अमृतबीज** (The seed of nector) कहते हैं। अमृतबीज के अन्त में प्राण बीज की रचना होती है। यह प्राण ही शिव का जीवन है। शिव की जीवनो–शक्ति है। इस प्रकार प्राण बीज कुछ और नहीं अपितु शक्तिही है। शक्तिकी इस स्थिति को ''अनाहत'' कहते हैं जो शिव की स्वचलित–स्वस्फूर्त शक्तिहै। इसका प्रतिनिधित्व अक्षर 'ह' से होता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि 'ह' का जप नहीं अपितु अनुभव करना चाहिए। जब हम 'सोहम्' मंत्र का जप करते हैं जिसमें अमृतबीज, प्राणबीज एवम् अनुस्वार का जप करते हैं। यह जप गलत तरीके से करते हैं क्योंकि इन तीनों {स, ह (.)} का जप हो ही नहीं सकता। ये तो स्वचलित हैं अर्थात् इनका मात्र अनुभव करना होता है। 'जप' तो शब्दों की नकल मात्र होता है। यद्यपि यह वास्तविक जप नहीं है तथापि आरम्भ में यह जप करना ही होता है और जब वास्तविकता सामने आ जाती है तब जप अपने आप बन्द हो जाता है और मात्र इन तीन अक्षरों का अनुभव शेष रह जाता है। (.) क्या है ? अमृत क्या है? प्राणबीज

क्या है? इसीलिए इसे अनाहत कहते हैं। सस्कृत में अनाहत का अर्थ है – जिसका जप नहीं किया जा सके। क्यों ? क्योंकि जप असम्भव है।

इस प्रकार यह पूरा इतिहास है इस ब्रह्माण्ड का जो पृथ्वी से शक्तितक निर्मित है। इस ज्ञान को मातृकाचक्र का सिद्धान्त कहते हैं। पाणिनि ने इस सिद्धान्त को सूत्र में इस प्रकार उल्लेखित किया है :–

''पहले एवम् अंतिम अक्षर को जोड़ दो'' ध्यान दीजिए कि अनुभव के स्तर पर अथवा एक–एक कर अनुभव नहीं करना है। आरम्भ में जो है उसे देखो एवम् अन्त में जो है उसे देखो। यदि दोनों को जोड़ दोगे तब तुम्हें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अनुभव हो जाएगा। यही प्रत्याहार कहलाता है। अतः प्रत्याहार के लिए पहले अनुत्तरा को लो – 'अ', फिर अनाहत को लो – 'ह' और इन्हें जोड़ दो। परन्तु ये जुड़ते नहीं है, फिर इन्हें जोड़ेंगे कैसे ? अतः दोनों को एक बिन्दु (अनुस्वार) पर लाकर जोड़ा जा सकता है। इस प्रकार 'अ', 'ह' '( )' को जोड़ने पर बनता है 'अहं'। यही अहं परामर्श है – सर्वाहंता का अनुभव (The perception of universal I)। यही 'अहम्' विमर्श का सार है। त्रिक्–दर्शन का सर्वोच्च मंत्र **अहम् विमर्श** ही है।

उत्पलदेव ने भी शिव की इस स्थिति का वर्णन अजड़प्रमातृसिद्धि में काव्य रूप में इस प्रकार किया है :–

''जो कुछ भी अनुभव किया जाता है, वह प्रकाश है''। जो देखा जाता है, जो सुना जाता है, जो सूंघा जाता है, जो चखा जाता है या जो स्पर्श किया जाता है, वह सब प्रकाश है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों की जो भी संवेदनाएँ हैं वह प्रकाश है। यही सर्वाहंता की स्थिति है। सारे अनुभव को (स्पर्श इत्यादि को) तुम्हारे स्व तक ले जाने तथा वहाँ स्थापित करने को ही स्वातंत्र्य कहते हैं। यही क्रियाशक्ति है। यह स्वातंत्र्य ही शिव का गौरव है।'' **(अजड़प्रमातृ सिद्धि /22–23)**

अब महान टिप्पणीकार क्षेमराज मातृकाचक्र का रहस्य बतलाते हैं। मातृका में तीन संसार होते हैं –

1. प्रमातृ संसार (Subjective World)
2. प्रमाण संसार (Cognitive World)
3. प्रमेय संसार (Objective World)

च्कि हम सब प्रमेय संसार में स्थित है, इसलिए प्रमातृ एवम् प्रमाण संसार से अनभिज्ञ हैं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हम प्रमातृ संसार एवम् प्रमेय संसार को आपस में कैसे मिला सकते हैं ? प्रमातृ संसार अनुत्तरा 'अ' में एवम् प्रमेय संसार अनाहत 'ह' में है एवम् दोनों में काफी भिन्नता है। इस प्रश्न का उत्तर ही मातृका चक्र का एक विशिष्ट रहस्य है जिसमें यह निर्णय किया गया है कि प्रमातृ एवम् प्रमेय संसार को कैसे मिलाया जाए? पहले प्रमातृता से प्रमातृता को निचोड़ लें फिर इसे प्रमेयता में प्रविष्ट करें। अब वास्तविक प्रमेयता से प्रमेयता को निचोड़ लें फिर इस प्रमेयता को और निचली प्रमेयता में प्रविष्ट करें। सर्वोच्च प्रमेयता 'ह' में और सर्वोच्च प्रमातृता 'अ' (अनुत्तरा) में है। अनुत्तरा से पाँच तत्वों का निर्माण हुआ है

जिनका प्रतिनिधित्व 'क', 'ख', 'ग', 'घ' 'ङ' करते हैं। निचले स्तर की प्रमेयता 'क' में होती है। अतः अनुत्तरा से वास्तविक प्रमातृता को निचोड़ कर 'क' की प्रमेयता में प्रविष्ट करें। यह वह पृथ्वी तत्व है, जहाँ हम सभी स्थित है। अब शक्तिकी वास्तविक प्रमेयता से प्रमेयता को निचोड़ कर निम्नतर प्रमेयता 'स' में प्रविष्ट करें। इस प्रकार 'क' और 'स' को मिलाने से 'क्ष' का निर्माण होता है।

'क' अर्थात् प्रमेयता + प्रमातृता (क्योंकि 'क' की प्रमेयता में प्रमातृता का प्रवेश हो गया है)

'स' अर्थात् वृहद् प्रमेयता, लघुत्तर प्रमेयता में प्रविष्ट है।

इस प्रकार 'स' अर्थात् प्रमेयता + प्रमेयता दानों को जोड़ने से 'क्ष' का प्रत्याहार उत्पन्न होता है। यह शक्तिप्रत्याहार है। यह एक प्रमेय का दूसरे प्रमेय से जोड़ है (न कि एक प्रमेय का प्रमातृ से जैसा शिव+शक्ति मातृका में होते हैं)। यह शक्ति+ शक्तिका जोड़ है जो जीव में पाया जाता है। 'क्ष' कूट बीज है अर्थात् स्त्री–शक्ति से उदित होने वाला बीज। यहाँ पुरूष–शक्ति का कोई उपयोग नहीं है। मातृका–चक्र का यह दर्शन वह शिष्य ही समझ पाता है, जिस पर गुरुकृपा होती है।

आइए ! अब समझें कि चक्र क्या है? यह चक्र मातृका का है जो शिव की पाँच महाशक्तियों से बनता है (चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवम् क्रिया) ।

ये पाँच शक्तियाँ एक चक्र की तरह घूमती रहती हैं। इसीलिए 'चक्र' कहलाती हैं। योगी को बोध होता है कि ये शक्तियाँ शिव से अभिन्न हैं। यही मातृका–चक्र का ज्ञान है।

मातृका–चक्र को विस्तार से अभिनव गुप्त ने तंत्रालोक तथा परात्रिंशिका की व्याख्या में समझाया है।

सिद्धामृत तंत्र में कहा गया है – ''मातृका के इस संसार में कुण्डलिनी वास्तविक नायिका है जो भिन्न–भिन्न किरदार निभाती है। कुण्डलिनी ही मातृका संसार का प्राण है और चेतना से भर जाने पर संसार का बीज भी है। इसी कुण्डलिनी से तीन अक्षरों का उदय होता है – अ, ई, उ।

आरम्भ में संस्कृत के इस अक्षर क्रम में पाणिनि ने तीन अक्षरों की स्थापना की थी – अ, इ, उं । प्रथम अनुत्तरा 'अ', इच्छा 'इ', उन्मेष 'उं' । इन तीन अक्षरों से शेष सारे अक्षर बनते हैं।

अब पाणिनि व्याख्या करते हैं – 'आ' अ से बनता है इत्यादि। जब विसर्ग का बहाव आता है तब उससे 'क' से 'स' तक के अक्षरों का उदय होता है।

स्वचेतना की एकाग्रता पाँच सर्वोच्च स्तरों में व्याप्त हो जाती है – (i) बाहरी संसार में, (ii) भीतरी संसार में, (iii) ध्वनि के संसार में, (iv) सर्वोच्च स्थिति में एवम् (v) सर्वोच्च निर्वात में। मातृका का यह रहस्य जाने बिना मंत्रोच्चार जलविहीन बादलों की तरह निरूपयोगी है।

(सिद्धामृत तंत्र)

ये ही शिव की पाँच सर्वोच्च स्थितियाँ होती हैं जिन्हें निम्नानुार जाना जा सकता है :–

(i) शिव की बाह्य स्थिति – ब्रह्माण्ड का हृदय है।

(ii) शिव की भीतरी स्थिति – शरीर का हृदय है।

शरीर का हृदय अर्थात् भौतिक हृदय नहीं अपितु महसूस करने की स्थिति है जो अंतर्निहित है। यह पूरे शरीर में व्याप्त रहता है। शरीर की स्थिति के विषय में सचेतना ही उसका (शरीर का) हृदय है। इस प्रकार सम्पूर्ण – ब्रह्माण्ड बाहरी हृदय है और भीतरी हृदय चेतना है।

(iii) ध्वनि का हृदय – समस्त ध्वनियों का उद्‌गम ध्वनिविहीन नाद से होता है। नाद कभी उत्पन्न नहीं होता, मात्र उसका अस्तित्व होता है।

(iv) चेतना की सर्वोच्च अवस्था ।

(v) निर्वात की सर्वोच्च अवस्था ।

भगवान शिव का कथन है – ''एक गुरु का यह गुण होता है कि वह शिष्य को बोध करा दे कि प्रथम क्या है एवम् अंतिम क्या है तथा इनको कैसे जोड़े ? वह गुरु वैसे ही पूज्यनीय है जैसे मैं। एक बार जब तुम मातृकाचक्र को जान लेते हो उसके बाद तुम जो कुछ भी करते हो वह दिव्य हो जाता है तथा सर्वोच्च अहंता से परिपूर्ण हो जाता है।'' **(सिद्धामृत तंत्र)**

ऐसा गुरु सामान्य मानव नहीं वरन् मानवता से परे है।

स्पन्द में भी उल्लेख है – ''यह क्रियाशक्ति शिव को जीव में उलझा देती है। जब शिव स्वयं की शक्तिकी प्रकृति समझ जाते हैं तब शक्तिशिव को उलझा नहीं पाती। जब तक प्रकृति को नहीं जानें तभी तक यह उलझाने में सफल होती है। प्रकृति को जानते ही तुम सारे बंधनों से मुक्त हो जाते हो।''

(स्पन्दकारिका / 3:16)

मातृका चक्र को जानने वाले योगी के लिए –

शरीरं हविः ।। 8।।

शरीर की अहंता सर्वोच्च शिवचेतना की अग्नि में हविष्य की तरह भस्म हो जाती है।

जब प्रमातृ भाव शरीर में स्थित होता है तब अनुभवकर्ता यह अनुभव करता है कि 'मैं यह स्थूल शरीर हूँ' यह जागृतावस्था का अनुभव है। 'मैं यह सूक्ष्म शरीर हूँ' यह स्वप्नावस्था का अनुभव है। 'मै अतिसूक्ष्म शरीर हूँ' यह सुषुप्तावस्था का अनुभव है।

सभी संसारी इन तीनों शरीरों में अहंता को प्रवेश कर स्वचेतना का अभिषिक्त करते हैं। जब इन तीनों शरीरों में स्वचेतना स्थिर हो जाती है तो ये शरीर तीन पर्दे अथवा आवरण कहे जाते हैं। इन तीन शारीरिक स्थितियों से अहंता हटानी पड़ती है अन्यथा प्रमाता इन शरीरों को ही स्वयं की तरह पहचानता है।

इन तीन पिण्डों में अहं भाव ही शरीर कहलाता है। मातृकाचक्र को जानने वाले योगी के लिए ये तीनों शरीर और उनमें अहंता, सर्वोच्च चेतना की अग्नि में हवि ही है। चेतना के तीनों स्तर सर्वोच्च चेतना से एक हो जाते हैं तथा अन्त में मात्र शिवचेतना या सर्वोच्च चेतना ही शेष रहती है। यह योगी समझता है कि समस्त ब्रह्माण्ड में मात्र शिवचेतना का साम्राज्य है। इस तरह उसे सर्वोच्च चेतना में प्रवेश मिल जाता है।

जब पाँचों तत्व, सभी अंग एवम् तन्मात्राएँ मन सहित ज्ञान द्वारा महाशून्य में आहूत होते हैं तब इसे 'महायज्ञ' कहते हैं।

(विज्ञान भैरव 149)

तिमिरोद्धारतंत्र में उल्लेखित है – 'जब तुम प्रेम के रिश्तों को, मित्रता को, रक्त के रिश्तों को, प्रसन्न करने वाले प्रेमी अथवा प्रमिका के रिश्तों को, सर्वोच्च चेतना की अग्नि में दग्ध कर देते हो तब तुम महाशून्य के द्वार पर खड़े हो। कहने का तात्पर्य यह है कि शरीर एवम उसके (तीनों शरीरों के) रिश्तों को शान्त करना अर्थात् उनसे अहंता को हटाना है।

भगवद्गीता में उल्लेख है – महान योगी समस्त अंगों की क्रियाओं को (इंद्रिय क्रियाकलापों को) तथा श्वास–प्रच्छ्वास की क्रिया को सर्वोच्च चेतना की एकाग्रता में हविष्य बनाकर समर्पित कर देता है।

(भगवद्गीता / 4:27)

स्पन्दकारिका में उल्लेख है :– जब सारे विक्षोभ (agitation) समाप्त हो जाते हैं तब सर्वोच्च चेतना की सर्वोच्च स्थिति प्रकट हो जाती है।

विक्षोभ (Agitation) :– शरीर के तीन स्तरों पर स्वचेतना का प्रवेश ही विक्षोभ है। तीन स्तरों से स्वचेतना को हटाकर ईश्वर चेतना से एकाकार करना ही विक्षोभ का अन्त है।

ज्ञानमन्नम् ।। 9।।

विभिन्नता का ज्ञान ग्रास करने में योगी तत्पर रहता है।

अथवा

स्वरूप ज्ञान ही योगी का पोषक (अन्न) है। यह सूत्र दो तरह से समझा जा सकता है –

1. योगी स्वयं के स्वरूप ज्ञान में भिन्नता के ज्ञान को ग्रास कर हजम कर जाता है और केवल सर्वाहन्ता का ज्ञान बचा रहता है। वह न केवल भिन्नता के ज्ञान को वरन् मृत्यु, समय, अच्छी–बुरी क्रियाओं, जीवन के भिन्न–भिन्न परिवर्तन, अच्छे–बुरे अनभव, यहाँ तक कि द्वैत–अद्वैत का प्रश्न इत्यादि सभी को सर्वोच्च चेतना में विलीन कर देता है।

2. ज्ञान अर्थात् स्वरूप ज्ञान यही योगी का पोषक है, अन्न है और वह इससे तृप्त है। इसी ज्ञान में वह मस्त रहता है। उसे भूख–प्यास भी नहीं सताती क्योंकि वह अपने स्वरूप–विमर्श में डूबा रहता है। वह खाना–पीना इत्यादि सभी कार्य करता है लेकिन उस सबसे निर्लिप्त रहता है।

स्पन्दकारिका निर्दिष्ट करती है– 'अपनी समस्त गतिविधियों में जागरुकता बनाये रखें।' (3:12)

हमें अपने विचारों के प्रति पूरी जागरुकता होना चाहिए। जब हम अपने विचारों के बारे में पूरे जागरुक होते हैं कि हम क्या सोच रहे हैं, तब हम कुछ नहीं सोचते। यदि तुम पूरी तरह जागरुक हो कि अब आगे क्या हो रहा है तब आगे कुछ नहीं होता। यदि तुम पूरी तरह जागरुक हा कि तुम मर रहे हो, तो तुम नहीं मरोगे। तुम जागरुक हो कि तुम जाग्रत से स्वप्नावस्था में प्रवेश कर रहे हो तो तुम स्वप्नावस्था में प्रवेश नहीं करोगे। ऐसी जागरुकता से सर्वोच्च चेतना में प्रवेश कर जाओगे। यही जागरुकता की महानता है। सर्वोच्च चेतना पर सम्पर्ण एकाग्रता से विचारशून्य हुआ जा सकता है। जागरुकता न होने पर तुम संसार के परम सत्य से अनजान रह जाओगे।

जब ऐसा योगी सतत् जागरुकता बनाए नहीं रखता अर्थात् उसकी जागरुकता बार–बार टूट जाती है तब ऐसे योगी का क्या हश्र होता है? यही अगले सूत्र में समझाया गया है ।

विद्यासंहारे तदुत्थस्वप्नदर्शनम् ।।10।।

शिवावस्था में (सर्वोच्च चेतना में) समाधि के समय स्थित हो जाने पर भी जो योगी सतत् जागरुकता बनाए नहीं रखता वह स्वप्नावस्था में प्रवेश करता है। यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है –

जाग्रतावस्था – सबसे स्थूल अवस्था, स्वप्नावस्था – उससे सूक्ष्म अवस्था, निद्रावस्था –उससे सूक्ष्मतर अवस्था,समाधि – सूक्ष्मतम अवस्था, समाधि अवस्था में जागरुकता बनाए रखना अत्यन्त कठिन होता है। यह तभी संभव हो पाता है जब आपका गुरु आपसे बेहद प्रसन्न हो।स्वप्नावस्था में प्रवेश इसलिए होता है क्योंकि जाग्रतावस्था में ज्यादा जागरुकता की आवश्यकता होती है।यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब जाग्रतावस्था की जागरुकता स्वप्नावस्था से ज्यादा है तो स्वप्नावस्था को जाग्रतावस्था की तुलना में सूक्ष्मतर क्यों कहते हैं? सत्य यह है कि जाग्रतावस्था की जागरुकता ज्यादा होकर भी भिन्नता के ज्ञान पर केन्द्रित है। समाधि = अभिन्नता के ज्ञान की उच्चतम जागरुकता,सुषुप्तावस्था= भिन्नताके ज्ञानकी न्यूनतम जागरुकता,स्वप्नावस्था= भिन्नता के ज्ञान की निम्नतर जागरुकता, जाग्रतावस्था = भिन्नता के ज्ञान की उच्चतम जागरुकता ।